अभिनव भारती ग्रन्थमाला—

प्राचीन भारतका कला

प्रकाशक—
गिरजाशङ्कर वर्मा
अभिनव भारती ग्रन्थमाला
१७१-ए, हरिसन रोड,
कलकत्ता

प्रथम बार
मूल्य २॥)

मुद्रक—
जेनरल प्रिण्टिङ्ग वर्क्स लि०
८३, पुराना चीनाबाजार स्ट्रीट,
कलकत्ता।

भूमिका

शान्तिनिकेतन की भारती संसद्‌ने नृत्य गीत आदिके अनुष्ठानके व्यावहारिक पहलूका प्राचीन काव्य ग्रन्थोंमें जो उल्लेख मिलता है उस पर दो व्याख्यान देनेका अनुरोध किया था। व्याख्यान सुनकर विद्वानोंने पसन्द किया था। इस पुस्तकका आरम्भ इसी बहाने हुआ था। इसके पुस्तकाकार संगृहीत होते होते यद्यपि देर हो गई परन्तु छपाई जल्दीमें ही हुई। दोष त्रुटियाँ ऐसी अनेक रह गई हैं जिन्हें मैं जानता हूं, ऐसी भी बहुत रह गई होंगी जिन्हें मैं जान नहीं पाया हूं। सहृदय पाठकोंकी उदारताके भरोसे उन्हें छोड़ रहा हूं। आशा है, सहृदयोंका मनोरंजन इस प्रयत्नसे होगा ही।

विनीत—

हजारीप्रसाद द्विवेदी

सूचीपत्र

विषय			पृष्ठ-संख्या

प्राचीन भारतका कला-विलास

१—कलात्मक विलास

कलात्मक विलास किसी जातिके भाग्यमें सदा-सर्वदा नहीं जुटता। उसके लिये ऐश्वर्य चाहिए, समृद्धि चाहिए, त्याग और भोगका सामर्थ्य चाहिए और सबसे बढ़कर ऐसा पौरुष चाहिए जो सौन्दर्य और सुकुमारताकी रक्षा कर सके। परन्तु इतना ही काफी नहीं है। उस जातिमें जीवनके प्रति ऐसी एक दृष्टि सुप्रतिष्ठित होनी चाहिए जिससे वह पशु-सुलभ इन्द्रिय वृत्तिको और बाह्य पदार्थोंको ही समस्त सुखोंका कारण न समझनेमें प्रवीण हो चुकी हो, उस जातिकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परंपरा बड़ी और उदार होनी चाहिए और उसमें एक ऐसा कौलीन्य-गर्व होना चाहिए जो आत्म-मर्यादाको समस्त दुनियावी सुख-सुविधाओंसे श्रेष्ठ समझता हो और जीवनके किसी भी क्षेत्रमें असुन्दरको बर्दाश्त न कर सकता हो। जो जाति सुन्दरकी रक्षा और सम्मान करना नहीं जानती वह विलासी भले ही हो ले पर कलात्मक विलास उसके भाग्यमें नहीं बदा होता। भारतवर्षमें एक ऐसा समय बीता है जब इस देशके निवासियोंके प्रत्येक कणमें जीवन था, पौरुष था, कौलीन्य

गर्व था और सुन्दरके रक्षण पोषण और सम्मानका सामर्थ्य था। उस समय उन्होंने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किए थे, संधि और विग्रहके द्वारा समूचे ज्ञात जगत्की सभ्यताका नियंत्रण किया था और वाणिज्य और यात्राओंके द्वारा अपनेको समस्त सभ्य जगत्का सिरमौर बना लिया था। उस समय इस देशमें एक ऐसी समृद्ध नागरिक सभ्यता उत्पन्न हुई थी जो सौन्दर्यकी सृष्टि, रक्षण और सम्माननमें अपनी उपमा स्वयं ही थी। उस समयके काव्य नाटक आख्यान, आख्यायिका, चित्र, मूर्ति, प्रासाद आदिको देखनेसे आजका अभागा भारतीय केवल विस्मय-विमुग्ध होकर देखता रह जाता है। उस युगकी प्रत्येक वस्तुमें छन्द है, राग है और रस है। उस युगमें भारतवासियोंने जीनेकी कला आविष्कार की थी। हम उसीकी कहानी कहनेका संकल्प लेकर चले हैं।

२—पुराना रईस

आजके यांत्रिक उत्पादनके युगमें विलासिता बहुत सस्ती हो गई है परन्तु प्राचीन कालमें ऐसी बात नहीं थी। प्राचीन भारतका रईस विद्या और कलाके पीछे मुक्त हस्तसे धन लुटाता था। क्योंकि वह जानता था कि धनके दो ही उपयोग हैं—दान और भोग। यदि दान और भोग किए बिना कोई अपार संपत्तिके बलपर ही अपनेको धनी माने तो दरिद्र भी क्यों न उसी धनसे अपनेको धनी कह ले?—

दानभोगविहीनेन धनेन धनिनो यदि।
तेनैव धनजातेन कथं न धनिनो वयम्॥"

सो, वह केवल स्वयं अपनी अपार धन राशिका कृपण भोक्ता नहीं था बल्कि अपने प्रत्येक आचरणसे शिल्पियों और सेवकोंकी एक बड़ी जमातको

धन बाँटता रहता था। वह प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्तमें उठता था। और उसके उठनेके साथ ही साथ शिल्पियों और सेवकोंका दल कार्यव्यस्त हो जाता था। प्रातः काल उठकर आवश्यक मुख प्रक्षालनादिसे निवृत्त होकर वह सबसे पहले दातूनसे दांत साफ करता था (काम सूत्र पृ० ४५)। परन्तु उसकी दातून पेड़से ताजी तोड़ी हुई मामूली दातून नहीं होती थी, वह औषधियों और सुगन्धित द्रव्योंसे सुवासित हुआ करती थी। कम-से-कम एक सप्ताह पहलेसे उसे सुवासित करनेकी प्रक्रिया जारी हो जाती थी। बृहत्संहितामें (७७-३१-३४) यह विधि विस्तार पूर्वक बताई गई है। गोमूत्रमें हरेंका चूर्ण मिला दिया जाता था और दातून उसमें एक सप्ताह तक छोड़ रखी जाती थी। उसके बाद इलायची, दालचीनी, तेजपात, अंजन, मधु और मरिचसे सुगन्धित किए हुए पानीमें उसे डुबा दिया जाता था (बृ० सं० ७७-३१-३२)। विश्वास किया जाता था कि यह दन्त काष्ठ स्वास्थ्य और मांगल्यका दाता होता है। इस दातूनको तैयार करनेके लिये प्राचीन नागरक (रईस) के सुगन्धकारी भृत्य नियमित रूपसे रहा करते थे। उन दिनों दातून केवल शरीरके स्वास्थ्य और स्वच्छताके लिये ही आवश्यक नहीं समझी जाती थी मांगल्य भी मानी जाती थी। इस बातका बड़ा विचार था कि किस पेड़की दातून किस तिथिको व्यवहार की जानी चाहिए। पुस्तकोंमें इस बातका भी उल्लेख मिलता है कि किस-किस तिथिको दातूनका प्रयोग एकदम करना ही नहीं चाहिए। सो नागरककी दातून कोई मामूली बात नहीं थी। उसके लिये पुरोहितसे लेकर गृहकी चेरी तक चिन्तित हुआ करती थी। दातूनकी क्रियाके समाप्त होते ही सुशिक्षित भृत्य अनुलेपनका पात्र लेकर उपस्थित होता था। अनुलेपनमें विविध प्रकारके द्रव्य हुआ करते थे। कस्तूरी, अगुरु, केसर

आदिके साथ दूधकी मलाईके मिश्रणसे ऐसा उपलेपन तैयार किया जाता था जिसकी सुगन्धि देर तक भी रहती थी और शरीरके चमड़ोंको कोमल और स्निग्ध भी बनाती थी। परन्तु कामसूत्रकी गवाहीसे हम अनुमान कर सकते हैं कि चन्दनका अनुलेपन ही अधिक पसन्द किया जाता था। इस अनुलेपनको उचित मात्रामें लगाना भी एक सुकुमार कला मानी जाती थी। जयमंगला टीकामें बताया गया है कि जैसे तैसे पोत लेना भद्दी रुचिका परिचायक है इसलिये अनुलेपन उचित मात्रामें होना चाहिए। अनुलेपनके बाद धूपसे बालोंको धूपित करनेकी क्रिया शुरू होती थी। स्त्रियोंमें यह क्रिया अधिक प्रचलित थी पर विलासी नागरक भी अपने केशोंकी कम परवाह नहीं किया करते थे। केशोंके शुक्ल हो जानेकी आशंका बराबर बनी रहती थी और बराहमिहिराचार्यने ठीक ही कहा है कि जितनी भी माला पहनो, वस्त्र धारण करो, गहनोंसे अपनेको अलंकृत कर लो पर अगर तुम्हारे केशमें सफेदी है तो ये कुछ भी अच्छे नहीं लगेंगे इसलिये मूर्धजों (केशों) की सेवामें चूकना ठीक नहीं है (बृ० सं० ७७-१)। सो साधारणतः उस शुक्लता रूपी भद्दी वस्तुको आने ही न देनेके लिये और उसे देर तक सुगन्धित बनाए रखनेके लिये केशोंको धूपित किया जाता था। परन्तु यह शुक्लता कभी-कभी हजार बाधा देनेपर आ धमकती थी और नागरकको प्रयत्न करना पड़ता था कि आनेपर भी वह लोगोंकी नज़रोंमें न पड़े। पुस्तकोंमें धूप देनेके कितने ही नुस्खे पाए जाते हैं। किसीसे कपूरकी गन्ध किसीसे कस्तूरीकी सुवास और किसीसे अगुरुकी खुशबू उत्पन्न की जाती थी। कपड़े भी इन धूपोंसे धुपे जाते थे। वस्तुतः भारतके प्राचीन रईस—क्या पुरुष और क्या स्त्री—जितना सुगन्धित कपड़ोंसे प्रेम करते थे उतना और किसी भी वस्तुसे

नहीं। केशोंके लिये सुगन्धित तेल बनानेकी भी विधियाँ बताई गई हैं। साधारणतः केशोंको पहले धूपित करके कुछ देर तक उन्हें छोड़ दिया जाता था और फिर स्नान करके सुगन्धित तेल व्यवहार किया जाता था (बृ० स० ७७-११)। बालोंकी सेवा हो जानेके बाद नागरक माला धारण करता था। माला चम्पा, जूही, मालती आदि विविध पुष्पोंकी होती थी। इनकी चर्चा अन्यत्र भी की जायगी।

वात्स्यायनके कामसूत्रमें मोम और अलक्तक धारण करनेकी क्रियाका उल्लेख है। किसी-किसीका अनुमान है कि अधरोंको अलक्तक (लाखसे बना हुआ लाल रंगका महावर) से लाल किया जाता होगा, जैसा कि आधुनिक कालमें लिप्स्टिकसे क्रिया रंगा करती हैं और फिर उन्हें चिक्कन करनेके लिये उनपर सिक्थक या मोम रगड़ दिया जाता होगा। मुझे अन्य किसी मूलसे इस अनुमानका पोषक प्रमाण नहीं मिला है। पर यदि अनुमान ही करना हो तो नखोंके रंगनेका भी अनुमान किया जा सकता है। वस्तुतः प्राचीन भारतके विलासीका नखोंपर इतना मोह था कि इस युगमें न तो हम उसकी मात्राका अन्दाज लगा सकते हैं और न कारण ही समझ सकते हैं। नखोंके काटनेकी कलाकी चर्चा प्रायः आती है। वे त्रिकोण, चन्द्राकार, दन्तुल तथा अन्य अनेक प्रकारकी आकृतियोंके होते थे। गौड़के लोग बड़े-बड़े नखोंको पसन्द करते थे, दाक्षिणात्य वाले छोटे नखोंको और उत्तरापथके नागर रसिक न बहुत बड़े न बहुत छोटे मझोले नखोंकी कदर करते थे। जो हो, सिक्थक और अलक्तकके प्रयोगके बाद नागरिक दर्पणमें अपना मुख देखता था। सोने या चांदीके समतल पट्टीको घिसकर खूब चिकना किया जाता था उससे ही आदर्श या दर्पणका काम लिया जाता था। दर्पणमें मुख देखनेके बाद अब वह

अपने बनाव सिंगारसे सन्तुष्ट हो लेता था तो सुगन्धित तांबूल ग्रहण करता था।

३—ताम्बूल-सेवन

ताम्बूल प्राचीन भारतका बहुत उत्तम प्रसाधन था। वह पूजा और शृंगार दोनों कामोंमें समान रूपसे व्यवहृत होता था। ऐसा जान पड़ता है कि आर्य लोग इस देशमें आनेके पहले ताम्बूल (पान) का प्रयोग नहीं जानते थे। उन्होंने नाग जातिसे इसका व्यवहार सीखा था। अब भी संस्कृतमें इसे नागवल्ली कहते हैं। बादमें नागोंकी यह वल्ली या लता भारतीय अन्तःपुरोंसे लेकर सभागृहों तक और राजसभासे लेकर आपानकों तक समान रूपसे आदर पा सकी। किसी कविने ठीक ही कहा है कि वल्लियां तो दुनियामें हजारों हैं, वे परोपकार भी कम नहीं करतीं पर सबको छाप कर विराजमान है एकमात्र नाग जातिकी दुलारी वल्ली ताम्बूल-लता जो नागरिकाओंके वदन चन्द्रोंको अलंकृत करती है—

> किं वीरुधो भुवि न सन्ति सहस्रशोऽन्ये,
> यासां दलानि न परोपकृतिं भजन्ते।
> एकैव वल्लिषु विराजति नागवल्ली,
> या नागरीवदनचन्द्रमतं करोति॥

इस ताम्बूलके वीटकका (बीड़ा) सजाना बहुत बड़ी कला माना जाता था। उसमें नानाभावसे सुगन्धि ले आनेकी चेष्टा की जाती थी। पानका बीड़ा नाना मंगलों और सौभाग्योंका कारण माना जाता था। वराहमिहिरने कहा है कि उससे वर्णकी प्रसन्नता आती है, मुखमें कान्ति और सुगन्धि आती है, वाणीमें मधुरिमाका संचार होता है; वह अनुरागको प्रदीप्त करता है,

रूपको निखार देता है, सौभाग्यको आवाहन करता है, वस्त्रोंको सुगन्धित बनाता है और कफ जन्य रोगोंको दूर करता है (सू० सं० ७७-३४-३५)। इसीलिये इस सर्वगुणयुक्त शृंगारसाधनके लिये सावधानी और निपुणता बड़ी आवश्यक है। सुपारी चूना और खैर ये पानके आवश्यक उपादान हैं। इन प्रत्येकको विविध भाँतिसे सुगन्धित बनानेकी विधियाँ पोथियोंमें लिखी हैं। पर इनकी मात्रा कला मर्मज्ञको ही मालूम होती है। खैर ज्यादा हो जाय तो लालिमा ज्यादा होकर भद्दी हो जाती है सुपारी अधिक हो जाय तो लालिमा क्षीण होकर अशोभन हो उठती है, चूना अधिक हो जाय तो मुखका गन्ध भी बिगड़ जाता है और क्षत हो जानेकी भी सम्भावना है, परन्तु पत्ते अधिक हों तो सुगन्धि बिखर जाती है। इसीलिये इनकी मात्राका निर्णय बड़ी सावधानीसे होना चाहिए। रातको पत्ते अधिक देने चाहिए और दिनको सुपारी (वृ० सं० ७७-३६-३७)। सो प्राचीन भारतका नागरक पानके बीड़ेके विषयमें बहुत सावधान हुआ करता था। ताम्बूल सेवनके बाद वह उत्तरीय संभालता था और अपने कार्यमें जुट जाता था। वह कार्य व्यापार भी हो सकता है, राजशासन भी हो सकता है, और मन्त्रणादिक भी हो सकता है।

४—रईसकी जाति

समृद्ध रईस ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्योंमें से ही हुआ करते थे। परन्तु शूद्रोंका उल्लेख न मिलने से यह नहीं समझना चाहिए कि शूद्र लोग समृद्ध कभी होते ही नहीं थे, सच्ची बात यह है कि समृद्ध लोग शूद्र नहीं हुआ करते थे। समृद्ध होनेके बाद लोग या तो ब्राह्मण या वैश्य—अधिकतर वैश्य—सेठ हो जाया करते थे, या क्षत्रिय सामन्त। उन दिनों भारत-

वर्षका व्यापार बहुत समृद्ध था और ब्राह्मण और क्षत्रिय भी सेठ हुआ करते थे। मृच्छकटिकका सेठ नागरक चारुदत्त ब्राह्मण था। यह धारणा गलत है कि ब्राह्मण सदासे यजन-याजनका ही काम करते थे। वस्तुतः यह बात ठीक नहीं है। मृच्छकटिक नाटकमें चार ब्राह्मण पात्र हैं। चारुदत्त श्रेष्ठिचत्त्वरमें वास करता है, सकल कलाओंका समादर कर्त्ता सुपुरुष नागर है, विदेशोंमें समुद्र पार उसके धन-रत्नसे पूर्ण जहाज भेजे जाते हैं, दरिद्र हो जानेपर भी वह नगरके प्रत्येक स्त्री-पुरुषका श्रद्धा भाजन है और अत्यन्त उदार और गुणान्वित हैं, दूसरा ब्राह्मण एक विट है जो राजाके मूर्ख सालेकी खुशामद पर जीता है, गणिकाओंका सम्मान भी करता है और प्रसन्न भी रखता है, पंडित भी है और कामुक भी है; तीसरा ब्राह्मण विदूषक है जिसे संस्कृत बोलनेका भी अभ्यास नहीं है और चौथा ब्राह्मण शार्विलक है जो पंडित भी है, चोर भी है और वेश्या-प्रेमी भी है। चोरी करना भी एक कला है, एक शास्त्र है, शार्विलकने उसका अच्छा अध्ययन किया था। कैसे सेंध मारना होता है, दीपक बुझा देनेके लिये कीटको कैसे उड़ाया जाता है, दरवाजे पर पानी छिड़कके उसे कैसे निःशब्द खोला जा सकता है यह सारी बातें उसने सीखी थीं। ब्राह्मणके जनेऊका जो गुण वर्णन इस चोर पण्डितने किया वह उपभोग्य भी है और सीखने लायक भी। इस यज्ञोपवीतसे भीतमें सेंध मारनेकी जगह पाई जा सकती है, इसके सहारे स्त्रियोंके गले आदिमें फंसी हुई भूषणावली खींच ली जा सकती है, जो कपाट यंत्रसे दृढ़ होता है—ताला लगाकर न खुलने योग्यबना दिया होता हैं,—उसका यह उद्घाटक बन जाता है और सांपगोजरके काट खानेपर कटे हुए घावको बांधनेका काम भी वह दे जाता है।—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गं,
एतेन मोचयति भूषणसंप्रयोगान्।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे,
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च॥

(मृ० ३-१७)

इस प्रकार ब्राह्मण उन दिनों सेठ भी होते थे, विट और विदूषक भी होते थे और शार्विलकके समान धर्मात्मा चोर भी! धर्मात्मा इसलिये कि शार्विलक चोरी करते समय भी नीति अनीतिका ध्यान रखता था, स्त्रियोंपर हाथ नहीं उठाता था, बच्चोंको चुराकर उनके गहने नहीं छीन लेता था, कमजोर और गरीब नागरके घरमें सेंध नहीं मारता था, ब्राह्मणका धन और यज्ञके निमित्त सोना पर लोभ नहीं रखता था और इस प्रकार चोरी करते समय भी उसकी मति कार्याकार्यका विचार रखती थी। [मृ० ४-६]

५—रईस और राजा

कभी-कभी रईसोंका विलास समसामयिक राजाओंसे भी बढ़कर होता था, इस बातका प्रमाण मिल जाता है। राजाओंको युद्ध, विग्रह, राज्य-संचालन आदि अनेक कठोर कर्म भी करने पड़ते थे, पर सुराज्यसे सुरक्षित समृद्धिशाली नागरिकोंको इन झंझटोंसे कोई सरोकार नहीं था। वे धन और यौवनका सुख निश्चिन्त होकर भोगते थे। कहानी प्रसिद्ध है कि एकबार दत्त ब्राह्मणके पुत्र माघ कवि महाराज भोजके घर अतिथि होकर गए। राजाने कविका सम्मान करनेमें कोई बात उठा न रखी पर कविको न तो स्नानमें ही सुख मिला और न भोजनमें ही न शयनमें ही। महाराज भोजने आश्चर्यके साथ सोचा कि न जाने यह अपने घर कैसे रहता है। कविके निमंत्रण

पर महाराज भोजने भी एक दिन पंडितके घर आनेका निश्चय किया। दूसरे वर्ष शीत ऋतुमें बड़ी भारी साज लेकर फिर महाराज पंडितके धौलापुर नामक ग्राममें उपस्थित हुए। पंडितके विशाल प्रासादको देखकर राजा आश्चर्यचकित रह गए। मकान देखनेके लिये प्रासादके भीतर प्रविष्ट हुए। स्थान-स्थान पर विविध कौतुक देखते हुए एक ऐसे स्थान पर आए जहां बहुत सी धूपकी बत्तियां सुगन्धित धूम उद्गिरण कर रही थीं, कुट्टिम भूमि सुगन्धित परिमल से गमक रहा था; राजाने पूछा—'पंडित यह क्या आपका पूजागृह है?' पंडितने ईषत् लज्जित होकर जवाब दिया,—महाराज आगे बढ़ें, यह स्थान पवित्र संभाषका नहीं है। राजा लज्जित हो रहे। स्नानके पूर्व मर्दनिक भृत्योंने इस सुकुमार भंगीसे मर्दन किया कि राजा प्रसन्न हो गए। सोनेके स्नानपीठपर बड़े आडंबरके साथ राजाको स्नान कराया गया। नाककी सांससे उड़ जाने योग्य वस्त्र राजाको दिए गए। सोनेके थालमें, जो ३२ कचोलकों [कटोरों] से परिवृत था, क्षीरका बना पक्वान्न, क्षीर-तन्दुलका कूर, उसीके बड़े और अन्य नाना भांतिके व्यंजन भोजनके लिये दिए गए। अब राजाको समझ पड़ा कि जो ऐसी रसोई खाता है उसे मेरी रसोई कैसे अच्छी लग सकती थी। भोजनके पश्चात् पंच सुगन्धि नाम तांबूल सेवन करके राजा पलंग पर लेटे। यद्यपि शीत ऋतुका समय था पर पंडितके गृहमें कुछ ऐसी व्यवस्था थी कि राजा चन्दनलिप्त होकर रातको बड़े आनन्दसे मीठी-मीठी व्यजन-वीजित वायुका सेवन करते हुए निद्रित हुए। वे भूल ही गए कि मौसम सर्दीका है। [पुरातन प्रबंध पृ० १७] इस कहानीसे यह अनुमान सहज होता है कि उन दिनों ऐसे रईस थे जिनका विलास समसामयिक राजाओंके लिये भी आश्चर्यका विषय था।

६—स्नान-भोजन

पुराना रईस स्नान नित्य किया करता था। परन्तु उसका स्नान कोई मामूली व्यापार नहीं था। काम-काज समाप्त होनेके बाद मध्याह्नसे थोड़ा पूर्व वह उठ पड़ता था। पहले तो अपने समवयस्क मित्रोंके साथ मधुर व्यायाम किया करता था, उसके दोनों कपोलों पर और ललाट देशमें पसीने-की दो चार बूंदे सिंदुवार पुष्पकी मंजरीके समान झलक उठती थीं तब वह व्यायामसे विरत होता था। परिजनोंमें तब फिर एक बार दौड़धूप मच जाती थी। रईस अपने स्नानागारमें पहुंचता था, वहां स्नानकी चौकी होती थी जो साधारणतः संगमर्मरकी बनी होती थी और बहुमूल्य धातुओंके पात्रमें सुगन्धित जल रखा हुआ रहता था। उस समय परिचारक या परिचारिका उसके केशोंमें सुगन्धित आमलक [आंवले] का पिसा हुआ कल्क, धीरे-धीरे मलती थी और शरीरमें सुवासित तैल मर्दन करती थी। नागरककी मर्दन या मन्या तैलका विशेष भाग पाती थी उसपर देर तक तेलकी मालिश होती थी क्योंकि विश्वास किया जाता था कि बुद्धिजीवी व्यक्तिकी मन्यापर तेल मलनेसे मस्तिष्कके तन्तु अधिक सचेत होते हैं। स्नान-गृहमें एक जलकी द्रोणी [गमला] होती थी उसमें रईस थोड़ी देर बैठते थे और बादमें स्नान-की चौकीपर आ विराजते थे। उनके सिरपर सुगन्धित वारिधारा पड़ने लगती थी और तृप्तिके साथ उनका स्नान समाप्त होता था। फिर वे सर्प-निर्मोक [केंचुल] के समान श्वेत और चमकीली धोती पहनते थे। धोती अर्थात् धौत वस्त्र। इस शब्दका अर्थ है धुला हुआ वस्त्र। ऐसा जान पड़ता है कि नागरकके वस्त्रोंमें सिर्फ धोती ही नित्य धोई जाती थी बाकी कई दिन तक अधौत रह सकते थे। इसका कारण स्पष्ट है क्योंकि नागरकका उत्तरीय

या चादर कुछ ऐसा वैसा वस्त्र तो होता नहीं था उसमें न जाने कितने आयासके बाद दीर्घकाल तक टिकनेवाली सुगन्धि हुआ करती थी। इसलिये धौत वस्त्र [धोती] की अपेक्षा उत्तरीय [चादर] ज्यादा मूल्यवान् होती थी। मस्तक पर नागरक एक क्षौम वस्त्रका अंगौछा-सा लपेट लेता था जिसका उद्देश्य केशोंकी आर्द्रता सोखना होता था। यह सब करके नागरक संध्या-तर्पण और सूर्योपस्थान आदि धार्मिक क्रियाओंसे निवृत्त होता था [कादंबरी कथा मुख]। जैसा कि शुरूमें ही कहा गया है, नागरक स्नान नित्य किया करता था, पर शरीरका उत्सादन एक दिन अन्तर देकर कराता था। उसके स्नानमें एक प्रकारकी वस्तुका प्रयोग होता था जिसे फेनक कहते थे, वह आधुनिक साबुनका पूर्व पुरुष था। उससे शरीरकी स्वच्छता आती थी, परन्तु प्रतिदिन उसका व्यवहार नहीं किया जाता था, हर तीसरे दिन फेनकसे स्नान विहित था [का० सू० वृ० १६]। हजामत वह हर चौथे दिन बनाता था। नाख़ून और दाँत साफ रखनेमें इस युगका रईस विशेष सावधान होता था और इस बातका भी बड़ा ध्यान रखता था कि उसके बगलमें पसीना जमकर दुर्गन्धि न फैलाने लगे। इस उद्देश्यके लिये वह एक करपट या रूमाल पासमें रखा करता था [का० सू० पृ० ४७]।

स्नान, पूजा और तत्संबद्ध अन्य कृत्योंके समाप्त होनेके बाद नागरक भोजन करने बैठता था। भोजन दो बार विहित था, मध्याह्नको और अपराह्नको। यह वात्स्यायनका मत है। चारायण सायाह्नको दूसरा भोजन होना ज्यादा अच्छा समझते थे। नागरकके भोजनमें भक्ष्य भोज्य लेह्य (चटनी) चोष्य (चूसने योग्य) पेय सब होता था। गेहूं, चावल, जौ, दाल, घी, मांस सब तरहका होता था, अन्तमें मिठाई खानेकी भी विधि थी। भोजन

समाप्त करनेके बाद नागरक आराम करता था और एक प्रकारकी धूमवर्ति (चुरुट) भी पीता था। धूम-पानके बाद वह ताम्बूल या पान लेता था और कोई संवाहक धीरे-धीरे उसके पैर दबा देता था (कादम्बरी-कथामुख) -संवाहनकी भी कला होती थी। मृच्छकटिक नाटकके नायक चारुदत्तका एक उत्तम संवाहक था जो उसके दरिद्र हो जानेके बाद जुआ खेलने लगा था। चारुदत्तकी प्रेमिका वसन्त सेनासे जब उसका परिचय हुआ तो वसन्तसेनाने उसकी कलाकी दाद देते हुए कहा कि भाई, तुमने तो बहुत उत्तम कला सीखी है। इसपर उसने जवाब दिया कि आर्ये कला, समझकर ही सीखी थी पर अब तो यह जीविका हो गई है।

ऊपर हमने भोजनका बहुत संक्षिप्त उल्लेख कर दिया है। इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि हमारे पुराने रईसका भोजन व्यापार बहुत संक्षिप्त हुआ करता था।

७—दिवा-शय्या

भोजनके बाद दिवा शय्या (दिनका सोना) करनेके पहले नागरक लेटे-लेटे थोड़ा मनोविनोद करता था। शुक-सारिका (तोता मैना) का पढ़ाना, तित्तिर और बटेरोंकी लड़ाई, भेड़ोंकी भिड़न्त उसके प्रिय विनोद थे (का० सू० पृ० ४७)। उसके घरमें हंस, कारण्डव, चक्रवाक, मोर, कोयल आदि पक्षी ; वानर, हरिन व्याघ्र सिंह आदि जन्तु भी पाले जाते थे। समय समय पर वह उनसे भी अपना मनोरंजन करता था (का० सू० पृ० २८४)। इस समय उसके निकटवर्ती सहचर पीठमर्द, विट विदूषक भी आ जाया करते थे। वह उनसे आलाप भी करता था। फिर सो जाता था। सोकर उठनेके

बाद वह गोष्ठी-विहारके लिये प्रसाधन करता था, अंगराग, उपलेपन, माल्य-गंध उत्तरीय संभालकर वह गोष्ठियोंमें जाता था। हमने आगे इन गोष्ठियोंका विस्तृत वर्णन किया है। यहां उनकी चर्चा संक्षेपमें ही कर ली है। गोष्ठियोंसे लौटनेके बाद वह सांध्य कृत्योंसे निवृत्त होता था और सायंकाल संगीतानुष्ठानोंका आयोजन करता था या अन्यत्र आयोजित संगीतका रस लेने आता था। इन संगीतकोंमें नाच, गान अभिनय आदि हुआ करते थे (का० सू० पृ० ४७-४८] साधारण नागरिक भी इन उत्सवों सम्मिलित होते थे। मृच्छकटिकके रेभिल नामक सुकंठ नागरकने सायं संध्याके बाद ही अपने घरपर आयोजित संगीतक नामक मजलिसमें गान किया था। इन सभाओंसे लौटनेके बाद भी नागरक कुछ विनोदोंमें लगा रहता था। परन्तु वे उसके अत्यन्त निजी व्यापार होते थे। इस प्रकार प्राचीन भारतका रईस प्रातःकालसे सन्ध्या तक एक कलापूर्ण विलासिताके वातावरणमें वास करता था। उसके प्रत्येक विलाससे किसी न किसी कलाको उत्तेजना मिलती थी, उसके प्रत्येक उपभोग्य वस्तुके उत्पादनके लिये एक सुरुचिपूर्ण परिश्रमी परिचारक मण्डली नियुक्त रहती थी। वह धनका सुख जमकर भोगता था और अपनी प्रचुर धन राशिके उपभोगमें अपने साथ एक बड़े भारी जनसमुदायकी जीविकाकी भी व्यवस्था करता था। वह काव्य नाटक आख्यान आख्यायिका आदिकी रचनाको प्रत्यक्ष रूपसे उत्साहित करता था और नृत्य, गीत, चित्र और वादित्रका तो वह शरण रूप ही था। वह रूप रस गंध स्पर्श आदि सभी इन्द्रियार्थोंके भोगनेमें सुरुचिका परिचय देता था और विलासितामें आकंठ मग्न रहकर भी धर्म और अध्यात्मसे एकदम उदासीन नहीं रहता था।

८—कलाका दार्शनिक अर्थ

कलात्मक आमोदोंकी चर्चा करनेके पहले यह जान रखना आवश्यक है कि इन आचरणोंके तीन अत्यन्त स्पष्ट पहलू हैं—(१) उनके पीछेका तत्त्ववाद, [२] उनका कलनात्मक विस्तार और (३) उनकी ऐतिहासिक परम्परा। मनुष्य समाजमें सामाजिक रूपसे प्रचलित प्रत्येक आचरणके पीछे एक प्रकारका दार्शनिक तत्त्ववाद हुआ करता है। कभी कभी जाति उस तत्त्वको अनजानमें स्वीकार किए रहती है और कभी कभी जानबूझ कर। जो बातें अनजानमें स्वीकृत हुई हैं वे सामाजिक रूढ़ियोंके रूपमें चलती रहती हैं परन्तु जातिकी ऐतिहासिक परम्पराके अध्ययनसे स्पष्ट हो पता चलता है कि वह किस कारण प्रचलित हुआ था। इस प्रकार प्रथम और तृतीय पहलू आपाततः विरुद्ध दिखने पर भी जातिकी सुचिन्तित तत्त्व विचारपर आश्रित होते हैं। दूसरा पहलू इन आचरणोंको गाढ़ अनुभूतिवश प्रकट किया हुआ हार्दिक उल्लास है। उसमें कल्पनाका खूब हाथ होता है। परन्तु यह चूंकि हृदयसे सीधे निकला हुआ होता है इसलिये वह उस जातिको उस विशेष प्रवृत्तिको समझनेमें अधिक सहायक होता है जिसका आश्रय पाकर वह आनन्दोपभोग करती है। इस पुस्तकमें इसी विशेष प्रवृत्तिको सामने रखनेका प्रयत्न किया गया है।

आगमों और तन्त्रोंमें कलाका दार्शनिक अर्थमें भी प्रयोग हुआ है। इस प्रयोगको समझनेपर आगेकी विवरणी ज्यादा स्पष्ट रूपसे समझमें आएगी। कला मायाके पांच कंचुकों या आवरणोंमेंसे एक कंचुक या आवरण होता है। काल-नियति-राग-विद्या-कला ये मायाके पांच कंचुक हैं। इन्हींसे शिव रूप व्यापक चैतन्य आवृत होकर अपनेको जीवात्मा समझने लगता है। इन पांच

कंचुकोंसे आवृत होनेके पहले वह अपने वास्तविक स्वरूपको समझता रहता है। उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ?—नित्यत्व-व्यापकत्व-पूर्णत्व-सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व उसके सहज धर्म हैं। अर्थात् वह सर्वकालमें और सर्व देशमें व्याप्त है, वह अपने आपमें परिपूर्ण है, वह ज्ञान स्वरूप है और सब कुछ करनेका सामर्थ्य रखता है। मायासे आच्छादित होनेके बाद वह भूल जाता है कि वह नित्य है, यही मायाका प्रथम आवरण या कंचुक है। इसका दार्शनिक नाम काल है। जो नित्य था उसे कालका अनुभव नहीं होता काल तो सीमाबद्ध व्यक्ति ही अनुभव करता है। इसी प्रकार जो सर्व देशमें वह अपनेको नियत देशमें स्थित एक देशी मानने लगता है, यह मायाका दूसरा कंचुक या आवरण है। इसका शास्त्रीय नाम नियति है। नियति अर्थात् निश्चित देशमें अवस्थान। फिर जो पूर्ण था वह अपनेमें अपूर्णता अनुभव करने लगता है अपनेको कुछ पानेके लिये उत्सुक बना देता है, उसे जिस 'कुछ' का अभाव खटकता है उसके प्रति राग होता है—यह मायाका तीसरा कंचुक है। जो सर्वज्ञ है वह अपनेको अल्पज्ञ मानने लगता है। उसे कोई सीमित वस्तुके ज्ञान प्राप्त करनेकी उत्सुकता अभिभूत कर लेती है। यह ज्ञानका कल्पित अभाव ही उसे छोटी मोटी जानकारियोंकी ओर आकृष्ट करता है। यही विद्या है यह मायाका चौथा कंचुक है; फिर जो सब कुछ कर सकने वाला होता है वह भूल जाता है कि मैं सर्वकर्त्ता हूं। वह छोटी मोटी वस्तुके बनानेमें रस पाने लगता है—यही कला है। यह मायाका पांचवां कञ्चुक है। ये सब कञ्चुक सत्य हैं। प्रत्येक मनुष्य उनसे बंधा है। परन्तु इनके दो पहलू होते हैं। जब ये मनुष्यको अपने आप तक ही सीमित रखते हैं तो ये बंधन बन जाते हैं परन्तु जब वे अपने ऊपर वाले

तत्त्वकी ओर उन्मुख करते हैं तो मुक्तिके साधन बन जाते हैं। इसीलिये जिस कलाका लक्ष्य वह कला ही होता है वह कभी भारतीय समाजमें समादृत नहीं हुआ परन्तु जो परमतत्त्वकी ओर उन्मुख कर देता है वही उत्तम है। काव्य भी वही श्रेष्ठ है जो मनुष्यको अपने आपमें ही सीमित न रखकर परम तत्त्वकी ओर उन्मुख कर देती है। कलाका लक्ष्य कला कभी नहीं है। उसका लक्ष्य है आत्म स्वरूपका साक्षात्कार या परम तत्त्वकी ओर उन्मुखीकरण। हम आगे जो विवरण उपस्थित करेंगे उसमें यथा सम्भव उसके अन्तर्निहित तत्त्ववादकी ओर बार-बार अंगुलि निर्देश नहीं करेंगे। हमारा यह भी वक्तव्य नहीं है कि विलासियोंने सब समय इस अन्तर्निहित तत्त्ववादको समझा ही है परन्तु इतना हम अवश्य कहेंगे कि भारतवर्षके उत्तम कवियों, कलाकारों और सहृदयोंके मनमें यह आदर्श बराबर काम करता रहा है। जिसकी विश्रान्ति भोगमें है वह कला बन्धन है पर जिसका इशारा परम तत्त्वकी ओर है वही कला कला है—

> विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
> लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥

९—कला

यहांपर यह भी कह रखना आवश्यक है कि प्राचीन भारतका वह रईस केवल दूसरोंसे सेवा करानेमें ही जीवनकी सार्थकता नहीं समझता था, वह स्वयं इन कलाओंका जानकार होता था। नागरकोंको 'खास-खास' कलाओंका अभ्यास कराया जाता था। केवल शारीरिक अनुरंजन ही कलाका विषय न था, मानसिक और बौद्धिक विकासका ध्यान पूरी मात्रामें रखा जाता था।

जब किसी किसी पुरुषको राजसभा और सहृदय गोष्ठियोंमें प्रवेश पा सकनेके लिये कलाओंकी जानकारी आवश्यक होती थी, उसे जाननेसे गोष्ठी विदग्धका अधिकारी सिद्ध करना होता था। कादम्बरीमें वैशम्पायन नामक तोतेको जब चाण्डाल कन्या राजा शूद्रककी सभामें ले गई तो उसके साथीने उस तोतेमें उन सभी गुणोंका होना बताया था जो किसी पुरुषको राजसभामें प्रवेश पानेके योग्य प्रमाणित कर सकते थे। उसने कहा था [कथामुख] कि यह तोता सभी शास्त्रोंको जानता है, राजनीतिके प्रयोगमें कुशल है, गान और संगीत शास्त्रकी बाईस श्रुतियोंका जानकार है, काव्य-नाटक-आख्यायिका-आख्यानक आदि विविध सुभाषितोंका मर्मज्ञ भी है और कर्ता भी है, परिहासालापमें चतुर, वीणा वेणु, मुरज आदि वाद्योंका अतुलनीय श्रोता है, नृत्तप्रयोगके देखनेमें निपुण है, चित्रकर्ममें प्रवीण है, द्यूत-व्यापारमें प्रगल्भ है, प्रणय-कलहमें कोप करनेवाली मानवती प्रियाको प्रसन्न करनेमें उस्ताद है, हाथी घोड़ा, पुरुष और स्त्रीके लक्षणोंको पहचानता है। कादम्बरीमें ही आगे चलकर चन्द्रापीड़को सिखाई गई कलाओंकी विस्तृत सूची दी हुई है [दे० परिशिष्ट] इसमें व्याकरण, गणित, और ज्योतिष भी हैं, गान वाद्य और नृत्य भी हैं, तैरना कूदना आदि व्यापार भी हैं, लिपियों और भाषाओंका ज्ञान भी है, काव्य नाटक और इन्द्रजाल भी है और बढ़ई तथा सुनारके काम भी हैं। वात्स्यायनके कामसूत्रमें कुछ और ही प्रकारकी कलाविद्याओंकी चर्चा है। बौद्ध ग्रन्थोंमें ८४ प्रकारकी कलाओंका उल्लेख है और जैन ग्रन्थोंमें ७२ प्रकारकी कलाओंका। कुछ ग्रंथोंमें दी हुई सूचियां इस ग्रन्थके अन्तमें संकलित कर दी गई हैं।

परन्तु इन सूचियोंके देखनेसे ही यह स्पष्ट हो जायगा कि कलाकी संख्या कोई सीमित नहीं है। सभी प्रकारकी सुकुमार और बुद्धिमूलक क्रियाएं कला

कहलाती थी। कलाके नामपर कभी-कभी लोगोंसे ऐसा काम करनेको कहा गया है कि आश्चर्य होता है। काशीके राजा जयन्तचन्द्रकी एक रखेली रानी सूहव देवी थी। कुछ दिनों तक उसका दरबारियों पर निरंकुश शासन था। कहते हैं उसने एकबार श्री हर्ष कविसे पूछा कि तुम क्या हो ? कविने जवाब दिया कि मैं 'कला-सर्वज्ञ' हूं। रानीने कहा—अगर तुम सचमुच कला-सर्वज्ञ हो तो मेरे पैरोंमें जूता पहनाओ। मनस्वी ब्राह्मण कवि उस रानीको घृणा करता था पर कलासर्वज्ञता तो दिखानी ही थी। दूसरे दिन चमारका वेश धारण करके कविने रानीको जूता पहनाया और फिरसे ब्राह्मण वेश धारण ही नहीं किया बल्कि सन्यासी होकर गंगातटपर प्रस्थान किया। [प्रबन्धकोश पृ० ५७]।

वात्स्यायनकी गिनाई हुई कलाओंमें लगभग एक तिहाई तो विशुद्ध साहित्यिक हैं। बाकीमें कुछ नायक-नायिकाओंकी विलास-क्रीड़ामें सहायक हैं, कुछ मनोविनोदके साधक हैं और कुछ ऐसी भी हैं जिन्हें दैनिक प्रयो-जनोंका पूरक कहा जा सकता है। गाना, बजाना, नृत्य चित्रकारी, प्रियाके कपोल और ललाटकी शोभा बढ़ा सकने वाले भोजपत्रके काटे हुए पत्रोंकी रचना करना [विशेषकच्छेद्य], फर्शपर विविध रंगोंके पुष्पों और रंगे हुए चावलोंसे नाना प्रकारके नयनाभिराम चित्र बनाना [तंदुल-कुसुम-विकार], फूल बिछाना, दांत और वस्त्रोंका रंगना, फूलोंकी सेज रचना, ग्रीष्म-कालीन विहारके लिये मरकत आदि पत्थरोंका गज बनाना, जल क्रीड़ामें मुरज मृदंग आदि बाजोंका बना लेना, कौशल पूर्वक प्रेयसीके प्रति पानीके छींटे फेंकना, माला गूंथना, केशोंको फूलोंसे सजाना, कानके लिये हाथी दांतके पत्तोंसे आभरण बनाना, सुगन्धित धूप दीप और बत्तियोंका प्रयोग जानना

गहना पहनाना, इन्द्रजाल और हाथकी सफाई, चोली आदिका सीना, भोजन और शरबत आदि बनाना, कुशासन बनाना, वीणा डमरू आदि बजा लेना इत्यादि कलाएं उन दिनों सभी सभ्य व्यक्तियोंके लिये आवश्यक मानी जाती थी। संस्कृत साहित्यमें इन कलाओंका विपुल भावसे वर्णन है। किसी विलासिनीके कपोल तलपर प्रियने सौभाग्य मञ्जरी अंकित कर दी है, किसी प्रियाके कानोंमें आगंड-विलंबि केसर वाल शिरीष पुष्प पहनाया जा रहा है, कहीं विलासिनीके कपोल देशकी चन्दन-पत्रलेखा कपोल भित्तिपर कुसुम बाणोंके लगे घावपर पट्टीकी भांति बंधी दिख रही है, कहीं प्रियाके कमल कोमल पदतल पर वेपथु-विकंपित हाथोंकी बनी हुई अलक्तक रेखा टेढ़ी हो गई है, कहीं नागरकोंके द्वारा स्थंडिल पीठिकाओंपर कुसुमास्तरण हो रहा है, कहीं जल क्रीड़ाके समय क्रीड़ा-दीर्घिकासे उत्थित मृदंग ध्वनिने तीरस्थित मयूरोंको उत्कंठित कर दिया है। इस प्रकारके सैकड़ों कला विलास उस युगके साहित्यमें पदपदपर देखनेको मिल जाते हैं।

इन कलाओंमें कुछ उपयोगी कलाएं भी हैं। उदाहरणार्थ, वास्तु विद्या या गृह निर्माण कला, रूप्य-रत्न-परीक्षा, धातु-विद्या। कीमती पत्थरोंका रंगना, वृक्षायुर्वेद या पेड़-पौधोंकी विद्या, हथियारोंकी पहिचान, हाथी-घोड़ोंकी लक्षण इत्यादि। वराहमिहिरकी वृहत्संहितासे ऐसी बहुतेरी कलाओंकी जानकारी हो सकती है जैसे वास्तुविद्या (५३ अध्याय), वृक्षायुर्वेद (५५ अ०) वज्रलेप (५७ अ०), कुक्कुट लक्षण (६३ अ०), शय्यासन (७८ अ०), गन्धयुक्ति (७७ अ०), रत्नपरीक्षा (८०-८३ अ०) इत्यादि। कलाओंमें ऐसी भी बहुत हैं जिनका सम्बन्ध किसी मनोविनोद मात्रसे है जैसे मेढ़ों और मुर्गोंकी लड़ाई, तोतों और मैनोंका पढ़ाना आदि। तंत्रान्त परि-

वारोंके महलोंका एक हिस्सा भेड़े मुर्गे, तीतर बटेरके लिये होते थे और अन्तः चतुःशालके भीतर तोता मैना अवश्य रहा करते थे। हम आगे चल कर देखेंगे कि उन दिनों संभ्रान्त रईसके अन्तःपुरमें कोकिल, हंस, कारण्डव, चक्रवाक, सारस, मयूर और कुक्कुट बड़े शौकसे पोसे जाते थे। अन्तःपुरिकाओं और नागरकोंके मनोविनोदमें इन पक्षियोंका पूरा हाथ होता था।

१०—कलाओंकी प्राचीनता

यह तो नहीं कहा जा सकता कि कलाओंकी गणना बौद्ध पूर्व कालमें प्रचलित हो थी पर अनुमानसे निश्चय किया जा सकता है कि बुद्ध-काल और उसके पूर्व भी कला-मर्मज्ञता आवश्यक गुण मानी जाने लगी थी। ललित-विस्तरमें केवल कुमार सिद्धार्थको सिखाई हुई पुरुष-कलाओंकी गणना ही नहीं है, चौंसठ कामकलाओंका भी उल्लेख है[1] और यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि बुद्ध-कालमें कलाएं नागरिक जीवनका आवश्यक अंग हो गई थीं। प्राचीन ग्रन्थोंमें इनकी सख्या निश्चित नहीं है, पर ६४ की संख्या शायद अधिक प्रचलित थी। जैन ग्रन्थोंमें ७२ कलाओंकी चर्चा है। पर बौद्ध और जैन दोनों ही सम्प्रदायोंमें ६४ कलाओंकी चर्चा भी मिल जाती है। जैन-ग्रन्थ इन्हें ६४ महिलागुण कहते हैं। कालिकापुराण एक अर्वाचीन

---

१ चतु:षष्टि कामकलितानि चानुभविया।
नूपुरमेखला अभिहनी विगलितवसनाः॥
कामसराहतासमदनाः प्रहसितवदनाः।
किन्तवार्यपुत्र विकृतिं यदि न भजसे॥
—ललितविस्तर (पृ० ४१७)

उपपुराण है। सम्भवतः इसकी रचना विक्रमकी दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दीमें आसाम प्रदेशमें हुई थी। इस पुराणमें कलाकी उत्पत्तिके विषयमें यह कथा दी हुई है: ब्रह्माने पहले प्रजापति और मानसोत्पन्न ऋषियोंको उत्पन्न किया फिर सन्ध्या नामक कन्याको उत्पन्न किया और तत्पश्चात् सुप्रसिद्ध मदन देवताको जिसे ऋषियोंने मन्मथ नाम दिया। ब्रह्माने मदन देवताको वर दिया कि तुम्हारे बाणोंके लक्ष्यसे कोई नहीं बच सकेगा। तुम अपनी इस त्रिभुवन विजयी शक्तिसे सृष्टि रचनामें मेरी मदद करो। मदन देवताने इस वरदान और कर्तव्य-भारको शिरसा स्वीकार किया। प्रथम प्रयोग उसने ब्रह्मा और सन्ध्यापर ही किया। परिणाम यह हुआ कि ब्रह्मा और सन्ध्या प्रेम-पीड़ासे अधीर हो उठे। उन्हींके प्रथम समागमके समय ब्रह्माके ४९ भाव हुए तथा सन्ध्याके बिब्बोक आदि हाव तथा ६४ कलाएं हुईं[1]। कलाकी उत्पत्तिका यही इतिहास है। कालिका पुराणके अतिरिक्त किसी अन्य पुराणसे यह कथा समर्थित है कि नहीं, नहीं मालूम। परन्तु इतना स्पष्ट है कि कालिकापुराण ६४ कलाओंको महिलागुण ही मानता है।

श्रीयुत् ए० वेंकट सुब्बइयाने भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंसे संग्रह करके कलाओं पर एक पुस्तिका प्रकाशित की हैं जो इस विषयके जिज्ञासुओंके बड़े कामकी है। इन सूचियोंको देखनेसे पता चलता है कि कला उन सब प्रकारकी जानकारियोंको कहते हैं जिनमें थोड़ीसी चतुराईकी आवश्यकता हो। व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, न्याय, वैद्यक और राजनीति भी कला हैं; उचकना, कूदना, तलवार चलाना घोड़ा चढ़ना भी कला है; काव्य, नाटक, आख्यायिका, सम-

1 कालिकापुराण, २, २८-२९

स्यापूर्त्ति, विंदुमती, प्रहेलिका भी कला है; स्त्रियोंका शृंगार करना, कपड़ा रंगना, चोली सीना, सेज बिछाना भी कला है; रत्न और मणियोंको पहचानना, घोड़ा, हाथी, पुरुष-स्त्री छाग मेष और कुक्कुटका लक्षण जानना, चिड़ियोंकी बोलीसे शुभाशुभका ज्ञान करना भी कला है और तित्तिर बटेरका लड़ाना, तोते मैनेका पढ़ाना, जूआ खेलना भी कला है। पुराने ग्रंथोंसे यह जान पड़ता है कि कई कलाएं पुरुषोंहीके योग्य मानी जाती थीं यद्यपि कोई-कोई गणिकाएं इन कलाओंमें पारंगत पाई जाती थीं ; ये गणित, दर्शन, युद्ध, घुड़सवारी आदिकी कलाएं हैं। कुछ कलाएं विशुद्ध कामशास्त्रीय हैं और हमारे विषयके साथ उनका दूरका ही सम्बन्ध है ; सब मिलाकर यह ज्ञात होता है कि ६४ कोमल कलाएं स्त्रियोंके सीखनेकी हैं और चूंकि पुरुष भी उनकी जानकारी रखकर ही स्त्रियोंको आकृष्ट कर सकते हैं इसी लिये स्त्री-प्रसादनके लिये इन कलाओंका ज्ञान आवश्यक है। कामसूत्रमें पंचालकी कलाकी बात है वह कामशास्त्रीय ही है। परन्तु वात्स्यायनकी अपनी सूचीमें केवल कामशास्त्रीय कलाएं ही नहीं हैं अन्यान्य सुकुमार जानकारियोंका भी स्थान है।

श्री वेंकट सुब्बइयाने भिन्न-भिन्न पुस्तकोंसे कलाओंकी दस सूचियां संग्रह की हैं। इनमें पंचाल और यशोधरकी कलाओंको छोड़ दिया जाय तो बाकीमें ऐसी कोई सूची नहीं है जिसमें काव्य, आख्यान, श्लोक पाठ और समस्यापूर्ति आदिकी चर्चा न हो। वेंकट सुब्बइयाने जिन पुस्तकोंसे कलाओंकी सूची ग्रहण की है उनके अतिरिक्त भी बहुतसी पुस्तकें हैं जिनमें थोड़ा बहुत हेर-फेरके साथ ६४ कलाओंकी सूची दी हुई है। ऐसा जान पड़ता है कि आगे चलकर कलाका अर्थ कौशल हो गया था और भिन्न-भिन्न ग्रन्थकार

अपनी रुचि, वक्तव्य वस्तु और प्रयोजनके अनुसार ६४ भेद कर लिया करते थे। सुप्रसिद्ध काश्मीरी पण्डित क्षेमेन्द्रने कलाविलास नामकी एक छोटीसी पुस्तक लिखी थी जो काव्यमाला सीरीज (प्रथम गुच्छ) में छप चुकी है। इस पुस्तकमें वेश्याओंकी ६४ कलाएं हैं जिनमें अधिकांश लोकाकर्षक और धना-पहरणके कौशल हैं; कायस्थोंकी १६ कलाएं जिनमें लिखनेके कौशलसे लोगोंको धोखा देना आदि बातें ही प्रमुख हैं; गानेवालोंकी अनेक प्रकारके धनापहरण रूपी कलाएं हैं; सोना चुराने वाले सुनारोंकी ६४ कलाएं हैं, गणकों या ज्योतिषियोंकी बहुविध धूर्तताएं हैं और अन्तिम अध्यायमें इन चौंसठ कलाओंकी गणना की गई है जिनकी जानकारी सहृदयको होनी चाहिए। इनमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी बत्तीस तथा मात्सर्य, शील, प्रभाव, मानकी बत्तीस कलाएं हैं। १० भेषज कलाएं वे हैं जो मनुष्यके भीतरी जीवनको नीरोग और निर्बाध बनाती हैं और सबके अन्तमें कला-कलापमें श्रेष्ठ सौ सार कलाओंकी चर्चा है। क्षेमेन्द्रकी गिनाई हुई इन कलाओंमें कहीं भी काव्य या समस्यापूर्तिको स्थान नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि अपने अपने वक्तव्य विषयके कौशलको ६४ या ततोधिक भागोंमें विभक्त करके 'कला' नाम दे देना बादमें साधारण नियम हो गया था। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि कोई अनुश्रुति इस विषयमें थी ही नहीं। ६४ की संख्याका घूम फिर कर आ जाना ही इस बातका सबूत है कि ६४ की अनु-श्रुति अवश्य रही होगी। ७२ की अनुश्रुति जैन लोगोंमें प्रचलित है। साधा-रणतः वे पुरुषोचित कलाएं हैं। ऐसा लगता है कि ६४ की संख्याके अन्दर प्राचीन अनुश्रुतिमें साधारणतः वे ही कलाएं रही होंगी जो वात्स्यायनकी सूचीमें हैं। कलाका साधारण अर्थ उसमें स्त्री-प्रसादन और वशीकरण है

और उद्देश्य विनोद और रसानुभूति है। निश्चय ही उसमें काव्यका स्थान था। राज सभाओंमें काव्य आख्यान आख्यायिका आदिके द्वारा सम्मान प्राप्त किया जाता था और यह भी निश्चित है कि अन्यान्य कलाओंकी अपेक्षा यह कला श्रेष्ठ मानी जाती थी। उस जमानेके घटा नामक बैठकों गोष्ठियों और समाजोंमें, उद्यान-यात्राओंमें, क्रीड़न-शालाओंमें और युद्धके क्षेत्रमें भी काव्य-कला अपने रचयिताको सम्मानके आसनपर बैठा देती थी।

११—काव्य-कला

स्वभावतः ही यह प्रश्न होता है कि वह काव्य क्या वस्तु है जो राज सभाओंमें सम्मान दिलाता था या गोष्ठी-समाजोंमें कीर्तिशाली बनाता था। निश्चय ही वह कुमारसम्भव या मेघदूत जैसे बड़े-बड़े रस काव्य नहीं होंगे। वस्तुतः उक्ति-वैचित्र्य ही वह काव्य है। दण्डी जैसे आलंकारिक आचार्योंने अपने अपने ग्रंथोंमें स्वीकार किया है कि कवित्व-शक्ति क्षीण भी हो तो भी कोई बुद्धिमान व्यक्ति अलंकार-शास्त्रोंके अभ्याससे राजसभाओंमें सम्मान पा सकता है (१-१०४-१०५)। राजशेखरने वक्ति विशेषको ही काव्य कहा है। यहां यह स्पष्ट रूपमें समझ लेना चाहिए कि मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि रसमूलक प्रबन्ध-काव्योंव्योंको काव्य नहीं माना जाता था या उनका सम्मान नहीं होता था; मेरा वक्तव्य यह है कि काव्य नामक कला जो राजसभाओं और गोष्ठी-समाजोंमें कविको तत्काल सम्मान देती थी वह उक्ति-वैचित्र्य मात्र थी। दुर्भाग्यवश हमारे पास वे समस्त विवरण जिनका ऐतिहासिक मूल्य हो सकता था उपलब्ध नहीं हैं; पर आनुश्रुतिक परम्परासे जो कुछ प्राप्त होता है उससे हमारे वक्तव्यका समर्थन ही होता है। यही कारण है कि पुराने

अलंकार शास्त्रोंमें रसकी उतनी परवा नही की गई जितनी अलंकारोंके गुणों और दोषोंकी। गुण दोषका ज्ञान वादीको पराजित करनेमें सहायक होता था। और अलंकारोंका ज्ञान उक्ति वैचित्र्यमें सहायक होता था। काव्यकला केवल प्रतिभाका विषय नहीं माना जाता था, अभ्यासको भी विशेष स्थान दिया जाता था। राजशेखरने काव्यकी उत्पत्तिके दो कारण बतलाए हैं; समाधि अर्थात् मनकी एकाग्रता और अभ्यास अर्थात् बार बार परिशीलन करना। इन्हीं दोनोंके द्वारा 'शक्ति' उत्पन्न होती है। यह स्वीकार किया गया है कि प्रतिभा नहीं होनेसे काव्य सिखाया नहीं जा सकता। विशेष कर उस आदमीको तो किसी प्रकार कवि नहीं बनाया जा सकता जो स्वभावसे पत्थरके समान है, किसी कष्टवश या व्याकरण पढ़ते पढ़ते नष्ट हो चुका है, या "यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः" जैसे अनल-धूमशाली तर्क रूपी आगसे जल चुका है या कभी भी सुकविके प्रबन्धको सुननेका मौका ही नहीं पा सका।

ऐसे व्यक्तिको तो किसो प्रकारकी भी शिक्षा दी जाय उसमें कवित्व शक्ति आ ही नहीं सकती क्योंकि कितना भी सिखाओ गधा गान नहीं कर सकेगा और कितना भी दिखाओ अन्धा सूर्यको नहीं देख सकेगा, पहला मामला प्रकृत्या जड़का है और दूसरा नष्टसाधनका—

यस्तु प्रकृत्याश्म समान एव कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः।
तर्केन दाह्योऽनलधूमिना वाऽप्यविद्धकर्णः सुकविप्रबन्धैः॥
न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्याच्छिक्षाविशेषैरपिसुप्रयुक्तः।
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि संदर्शितं पश्यति नार्कमन्धः॥

कविकंठाभरणः १-२२-२३

यह और बात है कि पूर्व जन्मके पुण्यसे मन्त्रसिद्ध कवित्व हो जाय या फिर इसी जन्ममें सरस्वतीकी साधनासे देवी प्रसन्न होकर कवित्वशक्तिका वरदान दे दें (कवि कणभरण १-२४) परन्तु प्रतिभा थोड़ी बहुत आवश्यक तो है ही। कवित्व सिखाने वाले ग्रन्थोंका यह दावा तो नहीं है कि वे गधेको गाना सिखा देंगे परन्तु इतना दावा वे अवश्य करते हैं कि जिस व्यक्तिमें थोड़ीसी भी शक्ति हो उसे इस योग्य बना देंगे कि वह सभाओं और समाजोंमें कीर्ति पा ले।

यदि हम इस बातको ध्यानमें रखें तो सहज ही समझमें आ जाता है कि उक्तिवैचित्र्यको इन अलंकारिकोंने इतना महत्त्व क्यों दिया है। उक्ति वैचित्र्य, वाद-विजय और मनोविनोदकी कला है। भामहने बताया है कि वक्रोक्ति ही समस्त अलकारोंका मूल है और वक्रोक्ति न हो तो काव्य ही नहीं हो सकता। भामहकी पुस्तक पढ़नेसे यही धारणा होती है कि वक्रोक्तिका अर्थ उन्होंने कहनेके विशेष प्रकारके ढगको ही समझा था। वे स्पष्ट रूपसे ही कह गए हैं कि सूर्य अस्त हुआ, चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा है, पक्षी अपने अपने घोंसलोंमें जा रहे हैं इत्यादि वाक्य काव्य नहीं हो सकते क्योंकि इन कथनोंमें कहीं वक्रभङ्गिमा नहीं है। दोष उनके मतसे उस जगह होता है जहां वाक्यकी वक्रता अर्थ प्रकाशमें बाधक होती है। भामहके बादके आलकारिकोंने वक्रोक्तिको एक अलङ्कार मात्र माना है। किन्तु भामहने वक्रोक्तिको काव्यका मूल समझा है। दण्डी भी भामहके मतका समर्थन कर गए हैं; यद्यपि वे वक्रोक्तिका अर्थ अतिशयोक्ति या बढ़ा चढ़ाकर कहना बता गए हैं। वक्रोक्तिको निश्चय ही बहुत दिनों तक काव्यका एकमात्र मूल माना जाता रहा पर व्यावहारिक रूपमें कभी भी काव्य केवल वक्रोक्ति-

चमत्कारसे चमत्कृत करेंगे। इसी प्रकार ध्वनिके साथ ध्वनिके मिलनेसे और अर्थके साथ अर्थके मिलनेसे जो दो परस्परसे स्पर्धा करनेवाली चारुताएं [सुन्दरताएं] उत्पन्न होंगी उनका पारस्परिक सामञ्जस्य ही यहां साहित्य शब्दका अर्थ है। उदाहरणके लिये दो रचनाएं ली जा सकती हैं। दोनोंमें भाव एक ही है।

चन्द्रमा धीरे-धीरे उदय होकर डरता डरता आसमानमें चल रहा है क्योंकि मानिनियोंके गरम-गरम आंसूसे कलुषित कटाक्षोंकी चोट उसे बार बार खानी पड़ रही है। एक कविने इसे इस प्रकार कहा:—

मानिनीजनविलोचनपातानुष्णबाष्पकलुषानभिगृह्णन् ।
मन्दमन्दमुदितः प्रययौ खं भीतभीत इव शीतमयूखः ॥

दूसरेने जरा चमकके इस प्रकार कहा:—

क्रमादेकद्वित्रिप्रभृतिपरिपाटीः प्रकटयन्,
कलाः स्वैरं स्वैरं नवकमलकन्दांकुररुचः ।
पुरन्ध्रीणां प्रेयोविरहदहनोद्दीपितदृशां,
कटाक्षेभ्यो बिभ्यन् निभृत इव चन्द्रोऽभ्युदयते ॥

यहां दोनों कविताओंका अर्थ एक ही है पर दूसरी कवितामें शब्द और अर्थकी मिलित चारुता-सम्पत्तिने सहृदयके हृदयमें विशेष भावसे चमत्कार पैदा किया है।

अस्तु, हमें यहां आलङ्कारियोंके बालके खाल निकालने वाले तर्कोंको दुहरानेकी इच्छा बिल्कुल नहीं है। हम केवल काव्यके उस मनोविनोदात्मक पहलूका स्मरण कराना चाहते हैं जो राज-सभाओं, सहृदय-गोष्ठियों, अन्तःपुरके समाजों और सरस्वती-भवनोंमें नित्य मुखरित हुआ करती थी। आगे

मूलक—अर्थात् निर्दोष वक्र भंगिमाके रूपमें कहे हुए वाक्यके रूपमें उसका प्रयोग नहीं होता था। उन दिनों भी रसमय काव्य लिखे जाते थे और सच पूछा जाय तो सरस काव्य जितने उन दिनों लिखे गए उतने और कभी लिखे ही नहीं गए। वस्तुतः आलंकारिक लोग तब भी ठीक-ठीक काव्य-स्वरूपको समझा नहीं सके थे। कुन्तक या कुन्तल नामके एक आचार्य सम्भवतः नवीं या दसवीं शताब्दीमें हुए। उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभाके बलपर वक्रोक्ति शब्दकी एक ऐसी व्यापक व्याख्या की जिससे वह शब्द काव्यके वास्तविक स्वरूप समझानेमें बहुत दूर तक सफल हो गया। कुन्तकके मतका सार मर्म इस प्रकार है—केवल शब्दमें भी कवित्व नहीं होता और केवल अर्थमें भी नहीं। शब्द और अर्थ दोनोंके साहित्यमें अर्थात् एक साथ मिलकर भाव प्रकाश करनेके सामंजस्यमें काव्यत्व होता है।

वैसे तो ऐसा कभी भी नहीं होगा कि शब्द और अर्थ परस्पर विच्छिन्न होकर श्रोताके समक्ष उपस्थित हों। शब्द और अर्थ तो जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी कह गए हैं—'गिरा अर्थ जल वीचि सम कहिय तो भिन्न न भिन्न' हैं। वे एक दूसरेको छोड़कर रही नहीं सकते फिर शब्द और अर्थके साहित्यमें काव्य होता है ऐसा कहना क्या बेकारका प्रलाप मात्र नहीं है। कुन्तक जवाब देते हैं कि यहीं तो वक्रोक्तिका चमत्कार है। काव्यमें शब्द और अर्थके साहित्यमें एक विशिष्टता होनी चाहिये। जब कवि प्रतिभाके बलपर एक वाक्य अन्य वाक्यके साथ एक विचित्र विन्यासमें विन्यस्त होता है तब एक शब्द दूसरेसे मिलकर जिस प्रकार स्वर और ध्वनि लहरीके आतान-वितानसे रमणीय माधुर्यका सर्जन करेंगे, उसी प्रकार दूसरी ओर तद्गर्भित अर्थ भी उसके साथ तुल्ययोगिता करके परस्परको एक नवीन

विशाल हुआ करता था। सामनेकी भूमिको पहले पानीसे झाड़ करके बादमें साफ कर दिया जाता था। और उसके ऊपर गोबरसे लीप दिया जाता था। भूमिका भाग या महलकी चौकी नाना प्रकारके सुगन्धित पुष्पों और रंगे हुए पल्लवोंसे सुसज्जित किया जाता था। ऊँचे फाटकके ऊपर गजदन्तों (खूँटियों) में मल्लीकी माला मनोहर भंगीमें लटका दी जाती थी। फाटकके ऊपर उसके सामने जो वातायन (खिड़की) हुआ करता था उसके नीचे मोतियोंकी (या कम-से-कम फूलोंकी) माला लटकती रहती थी। तोरणके कोनोंमें हाथीकी मूर्तियाँ बनी होती थीं जो अपने दाँतोंपर या सूँड़पर भार धारण करती हुई जान पड़ती थीं (मृच्छ० ४र्थ अङ्क)। ईसवी पूर्व दूसरी शतीका एक तोरण ब्रैकेट साँचीमें पाया गया है जिसमें हाथीके सामने अत्यन्त सुकुमार भंगीमें एक स्त्री मूर्ति वृक्षशाखा पकड़ कर खड़ी हुई है। इस प्रकारकी नारी मूर्तियोंको तोरणशाल-भंजिका कहते थे। शालभंजिका पुतली या मूर्तिको भी कहते हैं और वेश्याको भी। सन् ईसवीकी दूसरी शताब्दीकी एक तोरणशाल भंजिका मिली है जिसका दाहिना चरण हाथीके कुंभपर है और बायाँ जरा ऊपर उठे हुए सूँड़ पर। अश्वघोषके बुद्धचरितमें खिड़कीके सहारे ऐंठी हुई धनुषाकार झुकी हुई नारीकी तोरणशालभंजिकासे उपमा दी गई है—

> अवलम्ब्य गवाक्षपार्श्वमन्या
> शयिता चापविभुग्नगात्रयष्टिः।
> विरराज विलम्बिचारुहारा
> रचिता तोरणशालभञ्जिकेव॥
> (२५, ५२)

काव्यों नाटकों मूर्तियों और प्रासादोंके भग्नावशेषोंसे यह अनुमान पुष्ट होता है कि नागरकके मकानमें तोरणसालभंजिकाओंके विविध रूपकी मनोहर भंगिमाएं पाई जाती होंगी। साधारणतः तोरण द्वार महारजन या कुसुंभी रंगसे पुता होता था, प्रत्येक गृहपर सौभाग्यपताकाएं भी फहराती रहती थीं (मृच्छ ४र्थ अंक)। तोरण स्तम्भके पार्श्वमें वेदियां बनी होती थीं जिनपर स्फटिकके मंगलकलश सुशोभित रहते थे। इन कलशोंको जलसे भर दिया जाता था और ऊपर हरित आम्र पल्लवसे आच्छादन करके अत्यन्त ललाम बना दिया जाता था। बादमें चलकर वेदीके पास पल्लवाच्छादित पूर्ण कुम्भ उत्कीर्ण कर देनेकी भी प्रथा चल पड़ी थी। उन दिनों पूर्ण कुंभ स्थापनाकी प्रथा इतनी व्यापक थी कि कवियोंने उपमाके लिये उसका व्यवहार किया है। हालने प्रेमिकाके हृदय-मंदिरमें पधारने वाले प्रेमीके लिये सुसज्जित पूर्ण कुंभकी जो कल्पना की थी वह इसी प्रथाके कारण—

रत्थापइण्णणअणुप्पला तुमं सा पडिच्छए एन्तम्
दारणिहिएहिं दोहिं वि मङ्गल कलसेहिं व थणेहिं !

(गाथा० २-४०)

इन वेदियोंके पीछे विशाल कपाट हुआ करते थे और दूरसे प्रासादके भीतर [illegible] सोपान-पंक्तियां दिखाई देती थीं। सीढ़ियोंपर चन्दन-
[illegible]से बना हुआ सुगन्धित चूर्ण बिछा रहता था। इन्हीं
[illegible]के पास दौवारिक या द्वारपाल बैठा रहता था। घरकी
[illegible] भात या अन्य खाद्य वस्तु देवताओंको दी हुई बलिके
[illegible] थी जिसे या तो काक खा जाते थे या घरके पाले हुए

मारस, मयूर, लाव, तित्तिर आदि पक्षी (मृच्छ ४ थे अंक)। चारुदत्त जब दरिद्र हो गया था तो इस गृह देहलीमें तृणांकुर उत्पन्न हो आए थे।

संस्कृतके काव्यों जिन अन्तःपुरोंका वर्णन मिलता है वे साधारणतः बड़े-बड़े राजकुलोंके या अत्यधिक संभ्रान्त लोगोंके होते हैं। इसीलिये संस्कृतका कवि इनका वर्णन बड़े ठाटबाटसे करता है। अन्तःपुरके भीतरी भागका बनावट कैसा होता होगा इसका अनुमान ही हम काव्यों नाटकी आदिसे कर सकते हैं। मृच्छकटिकाका विदूषक अभ्यन्तरचतुःशाल या अन्तःचतुःशालके द्वारपर बैठकर पक्वान्न खाया करता था। इस अन्तःचतुःशाल शब्दसे अनुमान किया जा सकता है कि भीतर एक आंगन होता होगा और उसके चारों ओर शालाएं (घर) बनी होती होंगी। वराह मिहिर अन्तःपुरसे आंगनके चारों ओर अलिन्दों या बरामदोंकी व्यवस्था देते हैं। इन बरामदोंके खंभे शुरुमें लकड़ीके हुआ करते थे, बादमें पत्थर और ईंटके भी बनने लगे थे। इन खम्भोंपर भी शालभजिकाएं बनी होती थीं। ये मूर्तियां सौभाग्य-सूचक होती थीं। रघुवशके सोलहवे सर्गमें इन योषित् मूर्तियोंकी बात है (१६-१७)। सांची, मरहुत, मथुरा, जागयपेट, भूतेश्वर आदिमे खम्भों और रेलिगों पर खुदी हुई बहुत शालभजिकाएं पाई गई हैं। पुराने काव्योंमें अन्तःपुरिकाओंकी परिचारिकाओंके जो विविध क्रियाकलाप हैं वे इन मूर्तियोंमें देखी जातीं हैं। अनुमान होता है कि अन्तः चतुःशालके खम्भोंपर जो मूर्तियां उत्कीर्ण रही होंगी उनमें भी शृंगार और मांगल्यके व्यंजक भावोंका ही प्राधान्य रहता होगा।

१२—अन्तःपुरकी वृक्ष-वाटिका

इस अन्तःपुरसे लगी हुई एक वृक्ष-वाटिका हुआ करती थी। इसके बीचों-बीच एक दीर्घिका या तालाब रहा करता था। जगह कम हुई तो कुएं या बावड़ीसे ही काम चला लिया जाता था, पर आज हम उन लोगोंकी बात नहीं करने जा रहे हैं जो भाग्यदेवीके त्याज्य-पुत्र हैं इसलिये कामचलाऊ चीजें बनानेवालोंकी चर्चा करके इस प्रसंगको छोटा नहीं बनने देंगे। तो, इस वृक्ष-वाटिकामें फलदार वृक्षोंके सिवा पुष्पों और लताकुञ्जोंकी भी व्यवस्था रहती थी। फूलके पौधे एक क्रमसे लगाए जाते थे। वासगृहके आस-पास छोटे-छोटे पौधे, फिर क्रमशः बड़े गुल्म, फिर लता मंडप और सबसे पीछे बड़े-बड़े वृक्ष हुआ करते थे। एक भागमें एक ही श्रेणीके फूल लगाए जाते थे। अन्धकारमें भी सहृदय नागरको यह पहचाननेमें आयास नहीं होता था कि इधर चम्पकोंकी पाली है, यह सिंधुवारका मार्ग है, इधर बकुलोंकी घनी वीथी है और इस ओर पाटल पुष्पोंकी पंक्ति है—

> पालीयं चम्पकानां नियतमयमसौ सुन्दरः सिन्धुवारः
> सान्द्रा वीथी तथेयं बकुलविटपिनां पाटला पंक्तिरेषा।
> आघ्रायाघ्राय गंन्धं विविधमधिगतैः पादपैरेवमस्मिन्
> व्यक्तिं पंथाः प्रयाति द्विगुणतरतमोनिह्नुतोऽप्येष चिन्हैः।
>
> (रत्नावली २-५३)

गृह-स्वामिनी अपनी रंधनशालाके काम लायक तरकारियां भी इसी वाटिकाके एक अंशमें उत्पन्न कर लेती थीं। वात्स्यायनके काम-सूत्र (पृ० २२८) में बताया गया है कि वे इस स्थान पर मूलक (मूली), आलुक (कन्द), पलंकी (पालँग), दमनक (दवना), आम्रातक (आमड़ा),

ऐर्वारुक (फूटी), त्रपुस (खीरा), वार्ताक (बैंगन), कुष्मांड (कुम्हड़े), अलाबु (कद्दू), सूरण (सूरन), शुकनासा (अगस्ता), स्वयंगुप्ता (केंवाछ), तिल्पर्णिका (शाक विशेष), अग्निमन्थ, लशुन, पलाण्डु (प्याज) आदि साग-भाजी उगाती थीं। इस सूचीसे जान पड़ता है कि भारतवर्ष आजसे दो हजार वर्ष पहले जो साग-भाजियाँ खाता था वे अब भी बहुत परिवर्तित नहीं हुई हैं। इन साग-भाजियोंके साथ ये मसाले भी गृह-देवियाँ स्वयं उत्पन्न कर लेती थीं—जीरा, सरसों, जवायन, सौंफ, तेजपात आदि। वाटिकाके दूसरे भागमें कुब्जक (मालती ?) आमलक, मल्लिका (बेला) जाती (चमेली ?) कुरण्टक (कटसरैया), नवमालिका, तगर जपा आदि पुष्पोंके गुल्म भी गृहदेवियोंके तत्त्वावधानमें ही उगते थे। ये पुष्प नाना कार्योंमें काम आते थे। इनसे घर सजाया जाता था, जल सुगन्धित किया जाता था, नववधुओंका वासक-वेश तैयार होता था, स्थंडिल-पीठिकाओंको सजाया जाता था और सबसे बढ़कर देवपूजाकी क्रिया सम्पन्न होती थी। वृक्ष-वाटिकाकी पुष्पिता लताएं कुमारियोंका मनोविनोद करती थीं, नवदम्पतीके प्रणय कलहमें शर्त बनती थीं और निराश प्रेमिकाके गलेमें फांसीका काम भी करती थीं (रत्नावली ३य अङ्क)। अनुरागी नागरक और उसकी प्रियतमामें पुष्पोंके प्रथम प्रस्फुटनको लेकर बाजी लगती, नाना कौशलोंसे मन्त्र और मणिके प्रयोगसे, प्रियाके दर्शन वीक्षण, पदाघात आदिसे नाना वृक्ष-लताओंमें अकाल कुसुम उद्गत होते थे। जब प्रेमी हारते थे तो उन्हें प्रियाका शृंगार कर देनेकी सख्त सजा मिलती थी और जब प्रेमिका हारती थीं तो सौतकी भांति फूली हुई अनुराग भरी लताको बारम्बार आग्रहपूर्वक निहारनेवाले प्रियतमको देखकर उनका मुँह लाल हो उठता था—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणात्
आयासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम्।

(रत्नावली, द्वितीय अङ्क)

वृक्ष-वाटिकाके अन्तिम किनारे पर बड़े-बड़े छायादार वृक्ष—जैसे अशोक, अरिष्ट, पुन्नाग, शिरीष आदि लगाए जाते थे क्योंकि इनको मांगल्य वृक्ष माना जाता था (वृ० सं० ५५-३) और बीचों बीच गृह-दीर्घिका हुआ करती थी। इन दीर्घिकाओं (तालावों) में नाना भांतिके जल पक्षियोंका रहना मंगल-जनक माना जाता था। इनमें कृत्रिम भावसे कमलिनी (पत्र-पुष्प-लता समेत कमल) उत्पन्न की जाती थी। वराहमिहिरने लिखा है कि जिस सरोवरमें नलिनी (कमलिनी) रूप छत्रसे सूर्य-किरणें निरस्त होती हैं, हंसोंके कन्धोंसे धकेली हुई लहरियां कल्हारोंसे टकराती हैं, हंस, कारण्डव, क्रौंच और चक्रवाक गण कल निनाद करते रहते हैं और जिसके तटान्तकी वेत्रवन छायामें जलचर पक्षी विश्राम करते हैं ऐसे सरोवरोंके निकट देवतागण प्रसन्न भावसे विराजते हैं। (वृ० सं० ५६-४-७) अनुमान किया जा सकता है कि दी[illegible]काओंके तटपर बेंतके कुञ्ज जरूर रहते होंगे। काव्योंमें ऐसे वेतस [illegible]यः पाई जाती हैं। इन्हीं दीर्घिकाओंके बीचमें समुद्रगृह [illegible] कामसूत्र (पृ० २८३-४) की गवाही पर हम कह सकते [illegible]नोमें बना करता था, उसमें गुप्त भावसे पानीके संचारित हो रहा करती थी। इस प्रकार ग्रीष्मकालमें भी ये समुद्रगृह [illegible] करते थे।

वात्सायनसे पता चलता है (का॰ सू॰ पृ॰ ४५) कि इस वाटिकामें सघन छायामें प्रेंखादोला या झूला लगाया जाता था और छायादार स्थानोंमें विश्रामके लिये स्थंडिल पीठिकाएं (बैठनेके आसन) बनाए जाते थे जिनपर सुकुमार कुसुमदल बिछा दिए जाते थे। प्रेंखादोलाकी प्रथा वर्षा ऋतुमें ही अधिक थी। सुभाषितोंमें वर्षा ऋतुके वर्णनके अवसरपर ही प्रेंखादोलाओंका वर्णन पाया जाता हैं। आज भी सावनमें झूले लगाये जाते हैं। वात्स्यायनने जो छायादार वृक्षोंकी घनी छायामें झूला लगानेको कहा है सो इसी वर्षासे बचनेके लिये ही। वस्तुतः वर्षाकाल ही प्रेंखाविलासका उत्तम समय है। द्युलोक और भूलोकमें समानान्तर क्रियाओंके चलनेकी कल्पना कवियोंने इस प्रेंखा-विलाससे किया है, और कौन कह सकता है कि कमलनयनाओंकी आंखें दिशाओंको कमल फूलकी आरतीसे नीराजित कर देती होंगी, आनन्दोल्लासके हाससे जब चन्द्रिकाकी वृष्टि करती रहती होंगी और विद्युद्गौर कान्तिवाली तरुणियां तेजीसे झूलती रहती होंगी तो आकाशमें अचानक विद्युत् चमकनेका भान नहीं होता होगा!—

> दृशाविद्‌भिरे दिशः कमलराजिनीराजिताः
> हृता हसितरोचिषा हरति चन्द्रकावृष्टयः।
> अकारि हरिणीदृशः प्रबलदण्डकप्रस्फुरद्
> वपुर्विपुल रोचिषा वियति विद्युतो विभ्रमः!

भवन-दीर्घिकाके एक पार्श्वमें क्रीड़ा-पर्वत हुआ करते थे जिनके इर्द-गिर्द पाले हुए मयूर मँडराते रहते थे। यहां अन्तःपुरिकाएं नाना भांतिकी विलास-लीलाओंमें मग्न रहती थीं। वाटिकामें धारायन्त्र या फव्वारे हुआ करते थे जहां अन्तःपुरिकाएं होलीके दिनों अपनी पिचकारियोंमें जल भरा

करती थी और मयूर और किन्नरी अपनी जघनोंको लाल-लाल कोंपलोंसे आच्छादित कर देती थीं (कुमा० प्रथम सर्ग)। इन पहाड़ोंमें जलकेलिनाएं इन्द्र-धनुष या मकरन्द-विद्युत् बने होते थे जो अलकापुरीको उद्भासित करते रहते थे। अलकापुरीमें मेघदूतकी यक्षिणीके अन्तःपुरमें एक ऐसी ही वाटिका थी जिसमें यक्ष-प्रियाने एक छोटेसे मन्दार वृक्षको—जिसके गुच्छस्तबक हाथ पहुँचाके तोड़ने योग्य थे—पुत्रवत् पाल रखा था (मेघ० २-८०) इस उद्यानमें मरकत मणियोंकी सीढ़ीवाली एक वापी थी जिसमें वैदूर्यमणिके नालोंपर स्वर्ण कमल खिले हुए थे और हंसगण विचरण कर रहे थे। इस वापीके तीरपर एक क्रीड़ा पर्वत था जो इन्द्रनीलमणिसे निर्मित था और कनक कदलीसे वेष्टित था। वाटिकाके मध्य भागमें लाल फूलोंवाले अशोक और बकुलके वृक्ष थे, एक प्रियाके पदाघातसे और दूसरा वदन-मदिरासे उत्फुल्ल होनेकी आकांक्षा रखता था (मेघ० २-८१)। इसमें माधवीलताका मंडप था जिसका बेड़ा (वृत्त) कुरबक या पियानसाके झाड़ोंका था। कुरबकके झाड़ निश्चय ही उन दिनों उद्यानों और लता-कुंजोंके बेड़ेका काम करते थे। शकुन्तला जब प्रथम दर्शनमें राजा दुष्यन्तकी प्रेम-परवश हो गई और सखियोंके साथ विदा लेकर जाने लगी तो जान बूझकर अपना वल्कल कुरबककी कांटेदार शाखामें उलझा दिया था ताकि उसके सुलझानेके बहाने फिरकर एक बार राजाको देखनेका मौका मिल जाय। निश्चय ही शकुन्तलाके उद्यानका बेड़ा कुरबक पुष्पोंके झाड़का रहा होगा और बेड़ा पार करके चले जाने पर राजाका दिखाई देना सम्भव नहीं रहा होगा, इसलिये चलते-चलते मुग्धा प्रेमिकाने अन्तिम बार कौशलका सहारा लिया होगा। सो, इस कुरबकके बेड़े वाले मंडपमें ही सोनेकी वास-यष्टि पर यक्षप्रियाका वह पालतू मयूर बैठा

करता था जिसे वह अपनी चूड़ियोंकी मंजुध्वनिसे नचा लिया करती थी। उन दिनोंके गृह पालित पक्षी निश्चय ही बहुत भोले होते होंगे क्योंकि मयूर चूड़ियोंकी झनकारसे नाच उठता था (मेघ० २-८७), भवन दीर्घिकाका कलहंस नूपुरोंकी रुनझुनसे कोलाहल करने लगता था (कादम्बरी, पूर्वभाग) और मुग्ध सारस रसना (करधनी) के मधुर रणितसे उत्सुक होकर अपने क्रेंकारसे वायुमण्डल करा देता था (काद० पूर्व०)। बहुत भीतर जानेपर यक्षप्रियाके शयन कक्षके पास पिंजड़ेमें मधुरभाषिणी सारिका थी जिससे वह यदा-कदा अपने प्रियकी बातें पूछा करती थी (मेघ० २-८७)। सांची तोरण पर जो ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दीकी उत्कीर्ण प्रतिकृतियां पाई गई हैं उनमें कनक कदलीसे वेष्टित ऐसी भवन दीर्घिकाएं भी पाई गई हैं और अन्य वृक्षके छाया तले क्रीड़ा पर्वत भी पाए गए हैं जो प्रेमियोंकी प्रेमलीलाएं बहुत अभिराम भावसे दिखाई गई हैं। रेलिंगों और स्तम्भोंपर हस्त प्राप्य-स्तवक-नमित मन्दार वृक्ष भी हैं और पंजरस्था सारिका वाली प्रेमिका यक्षिणी भी। इस प्रकार जिस युगकी कहानी हम कह रहे हैं उस युगमें ये बातें बहुत अधिक प्रचलित रही होंगी, ऐसा अनुमान होता है।

१३—अन्तःपुरका सरस जीवन

बाणभट्टकी कादम्बरीमें एक स्थानपर अन्तःपुरका बड़ा ही जीवन्त और रसमय वर्णन है। इस वर्णनसे हमें कुछ काम लायक बातें जाननेको मिल सकती हैं, वैसे, यह वर्णन उस किन्नरलोकका है जहां कभी किसीको कोई चिन्ता नहीं होती। वह उन वित्तेशोंका अन्तःपुर है जिनके विषयमें कालिदास कह गए हैं कि वहां किसीकी आंखमें अगर आंसू आते हैं तो आनन्द जन्य ही

और किसी कारणसे नहीं ; प्रेमबाणकी पीड़ाओंके सिवा वहां और कोई पीड़ा नहीं होती और यह पीड़ा होती भी है तो इसका फल अभीष्ट व्यक्तिकी प्राप्ति ही होती है, वहां प्रेमियोंमें प्रणय कलहके क्षणस्थायी कालके अतिरिक्त और कभी वियोग होता ही नहीं और यौवनके सिवा और कोई अवस्था उन लोगोंकी जानी ही हुई नहीं है—

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै:
नान्यस्तापः :कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात् ।
नाप्यन्यस्मात् प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
र्वित्तेशानां न खलु च वयो यौवनादन्यदस्ति ॥

(मेघ० २-४)

तो ऐसे भाग्यशालियोंके अन्त;पुरमें कुछ बातें ऐसी जरूर होंगी जो हमारी समझके बाहरकी होंगी। उस अन्तःपुरमें कोई लवलिका केतकी (केवड़े) की पुष्प धूलिसे लवली (हरफा रेवड़ी) आलवालोंको सजा रही थी, कोई गन्ध जलकी वापियोंमें रत्नवालुका निक्षेप कर रही थी, कोई मृणालिका कृत्रिम कमलिनियोंके यन्त्र-चक्रवाकोंके ऊपर कुंकुमरेणु फेंक रही थी, कोई मकरिका कर्पूर पल्लवके रससे गन्ध पात्रोंको सुवासित कर रही थी, कोई रजनिका तमाल वीथिकाके अन्धकारमें मणियोंके प्रदीप सजा रही थी, कोई कुमुदिका पक्षियोंके निवारणके लिये दाड़िम फलोंको मुक्ताजालसे अवरुद्ध कर रही थी, कोई निपुणिका मणि-पुत्तलियोंके वक्षस्थलपर कुंकुम रससे चित्रकारी कर रही थी, कोई उत्पलिका कदली गृहकी मरकत वेदिकाओंको सोनेकी सम्मार्जनी (झाड़ू) से साफ कर रही थी, कोई केसरिका वकुल कुसुमके मालागृहोंको मदिरा रससे सींच रही थी और कोई मालतिका कामदेवायतनकी

हाथी दाँतकी बनी वर्णरेखा (कलम) को सिन्दूर रेणुसे पाटलित कर रही थी। ये सारी बातें ऐसी हैं जिनका अर्थ हम दरिद्र ऐतिहासिकोंकी समझमें नहीं आ सकता। हम आँखें फाड़-फाड़कर देखते ही रह जाते हैं कि मधु-मक्खियोंको भी अपेक्षा अधिक प्यास दिखानेवाले इस अन्तःपुरके इन प्यालोंका अर्थ क्या है। पर, आगे कुछ ऐसी बातें भी हैं जो समझमें आ जाती हैं। वहां कोई नलिनिका भवनके कलहंसोंको कमलका मधुरस पान कराने जा रही थी, कोई कदलिका मयूरको धारागृह या फव्वारेके पास ले जा रही थी—शायद जल-मज्जनके मजा लेनेके लिये!—कोई कमलिनिका चक्रवाक शावकोंको मृणाल क्षीर खिला रही थी, कोई चूतलतिका कोकिलोंको आम मञ्जरीका अङ्कुर खिलानेमें लगी थी, कोई पल्लविका मरिच (काली मिर्च) के कोमल किसलयोंको चुन-चुनकर भवन हारीतोंको खिला रही थी, कोई लवङ्गिका चकोरोंके पिंजड़ोंमें पिप्पलीके मुलायम पत्ते बिखेर रही थी, कोई मधुरिका पुष्पोंका आभरण बना रही थी और इस प्रकार सारा अन्तःपुर पक्षियोंकी सेवामें व्यस्त था। उसके भीतर वचनकुशला सारिका (मैना) और विदग्ध शुक (तोता) थे जिनके प्रणय कलहकी शिक्षा पूरी हो चुकी थी और कुमार चन्द्रापीडके सामने अपनी रसिकताकी विद्याका प्रदर्शन करके सारिकाओंने कादम्बरीके अधरोंपर लज्जायुक्त मुसकानकी एक हल्की रेखा प्रकट कर दी थी।

१४—विनोदके साथी—पक्षी

संस्कृत साहित्यमें पक्षियोंकी इतनी अधिक चर्चा है कि अन्य किसी साहित्यमें इतनी चर्चा शायद ही हो। जिन दिनों संस्कृतके काव्य नाटकोंका निर्माण अपने पूरे चढ़ावपर था, उन दिनों केलि-गृह और अन्तःपुरके

प्रांगणसे लेकर युद्ध-क्षेत्र और वानप्रस्थोंके आश्रम तक कोई-न-कोई पक्षी भारतीय सहृदयके साथ बराबर रहा करता था। वह विनोदका साथी था, सहृदयताका दूत था, भविष्यके शुभाशुभका द्रष्टा था, वियोगका सहारा था, संयोगका योजक था, युद्धका सन्देश वाहक था और जीवनका ऐसा कोई क्षेत्र नहीं था, जहाँ वह मनुष्यका साथ न देता हो। कभी भवन-वलभीमें सोए हुए पारावतके रूपमें, कभी मानिनीको हँसा देनेवाले शुकके रूपमें, कभी अज्ञात प्रणयिनीके विरहोच्छ्वासको खोल देनेवाली सारिकाके रूपमें, कभी नागरिकोंकी गोष्ठीको उत्तेजित कर देनेवाले योद्धा कुक्कुटके रूपमें, कभी भवन-दीपिका (अन्तःपुरके तालाब) में मृणाल तन्तुभक्षी कलहंसके रूपमें कभी अज्ञात प्रियके सन्देशवाहक राजहंसके रूपमें, कभी चूत-कषाय-कण्ठसे विरहिणीके दिलमें हूक पैदा कर देनेवाले कोकिलके रूपमें, कभी नुपूरकी झंकारसे झंकार ध्वनिकारी सारसके रूपमें, कभी कंकणकी रुनझुनसे नाच पड़नेवाले मयूरके रूपमें, कभी चन्द्रिका पानमें मद-विह्वल होकर मुग्धाके मनमें अपरिचित हलचल पैदा कर देनेवाले चकोरके रूपमें, वह प्रायः इस साहित्यमें पाठककी नजरोंसे टकरा जाता है। इन पक्षियोंको संस्कृत-साहित्यमें से निकाल दीजिए, फिर देखिए कि वह कितना निर्जीव हो जाता है। हमारे प्राचीन साहित्यको जिन्होंने इतना सजीव कर रखा है, इतना सरल बना रखा है, उनके विषयमें अभी तक हिन्दीमें कोई विशेष उल्लेख-योग्य अध्ययन नहीं हुआ है, यह हमारी उदासीनताका पक्का प्रमाण है।

महाभारतमें एक पक्षीने एक मनुष्यसे कहा था कि मनुष्य और पक्षियोंमें सम्बन्ध दो ही तरहके हैं—भक्षणका सम्बन्ध और क्रीड़ाका सम्बन्ध। अर्थात् मनुष्य या तो पक्षियोंको खानेके काममें लाता है या उन्हें फँसाकर उनसे

मनोविनोद किया करता है—और कोई दूसरा सम्बन्ध इन दोनोंमें नहीं है। एक भक्ष्य सम्बन्ध है और दूसरा कौतुक।

भक्षार्थं क्रीडनार्थं वा नरा वाञ्छन्ति पक्षिणम्।
तृतीयो नास्ति संयोगो वधबन्धादृते क्षमः

(म० भा० शान्तिपर्व, ११९-१०)

परन्तु समस्त संस्कृत-साहित्य और स्वयं महाभारत इस बातका सबूत है कि एक तीसरा सम्बन्ध भी है। यह प्रेमका सम्बन्ध है। अगर ऐसा न होता तो कमलवन पर विराजमान बलाका (बक-पंक्ति), जो मरकत मणिके पात्रमें रखी हुई शंख-शुक्तिके समान दीख रही है, अकारण मानव-हृदयमें आनन्दोद्रेक न कर सकती—

उअ णिच्चल-णिप्पंदा भिसिणी-पत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मल-मरगअ-भाअण-परिट्ठिआ संख सुत्ति व्व॥

(हाल सतसई, १·४)

तपोनिरता पर्वत-कन्या जब कण्ठोदघ्नी नदीमें जल-वास करती होती, तो इससे एक दूसरेको पुकारनेवाले चक्रवाक-दम्पतिके प्रति अहेतुक कृपावती न हो जाती (कुमार संभव ५-२६) धानको लहराते हुए, मृगांगनाओंसे आप्लु-दित और क्रौंच पक्षीके मनोहर निनादसे मुखरित सीमान्त पेंकाके साथ मनुष्यके चित्तको इतना चपल न कर सकते (ऋतु० ३) और न ऐसी नदियाँ, जिनकी कांची मीनोंकी श्रेणी है, जिनका कलरव कलहंसोंका निनाद है, जिनकी साड़ी जलधारा है, जिनके कानके आभरण तीरद्रुमके पुष्प हैं, जिनका श्रोणी-मण्डल जल-स्थलका संगम है, जिनके उरस्य उन्नत पुलिन हैं, जिनकी मुसकान हंसश्रेणी है, ऐसी नदियोंके तटपर ही देवता रमण कर सकते हैं—यह बात ही मनुष्यके मनमें आ पाती:—

क्रौंचकांचीकलापाश्च कलहंसकलस्वनाः ।
नद्यस्तोयांशुका यत्र शफरीकृतमेखलाः ॥
फुल्लतीरद्रुमोत्तंसाः संगमश्रोणिमण्डलाः
पुलिनाभ्युन्नतोरस्याः हंसहासाश्च निम्नगाः ।
वनोपान्तनदीशैलनिर्झरोपान्तभूमिषु ।
रमन्ते देवता नित्यं पुरेषूद्यानवत्सु च ।

(बृहत्संहिता, ५६-६८)

अन्तःपुरसे बाहर निकलने पर राजकुलके प्रथम प्रकोष्ठमें भी बहुतेरे पक्षियोंसे भेंट हो जाती है । इसमें कुक्कुट (मुर्गे), कुरक, कपिंजल, लावक और वार्तिक नामक पक्षी हैं, जिनकी लड़ाईसे नागरिकोंका मनोविनोद हुआ करता था (कादम्बरी, पृ० १७३) । इसी प्रकोष्ठमें चकोर, कादम्ब (एक हंस) हारीत और कोकिलकी भी आवाज सुनाई दे जाती थी, और शुक-सारिकाओंकी मजेदार बातें भी कर्णगोचर हो जाती थीं । वात्स्यायनने काम-सूत्र (पृ० ४७) में नागरिकोंको भोजनके बाद शुक-सारिकाका आलाप तथा लावक कुक्कुट और मेषोंके युद्धके देखनेकी व्यवस्था की है । भोजनके बाद तो प्रत्येक सम्भ्रान्त नागरिक इन क्रीड़ाओंको अपने मित्रों सहित देखता ही था ।

१५—उद्यान-यात्रा

उद्यान-यात्राओंके समय इनका महत्त्व बहुत बढ़ जाता था । निश्चित दिनको पूर्वाह्नमें ही नागरिक गण सजधज कर तैयार हो जाते थे । घोड़ोंपर चढ़कर जब वे किसी दूरस्थित उद्यानकी ओर—जो एक दिनमें पहुँचने लायक दूरीपर हुआ करता था—चलते थे, तो उनके साथ पालकियों पर या बहलियों-

में वारवधूटियां चला करती थीं और पीछे परिचारिकाओंका झुण्ड चला करता था। इन उद्यान-यात्राओंमें कुक्कुट, लाव और मेष-युद्धका आयोजन होता था, हिंडोल-विलासकी व्यवस्था रहा करती थी और यदि ग्रीष्मका समय हुआ, तो जलक्रीड़ा भी होती थी (कामसूत्र पृ० ५३)।

कभी-कभी कुमारियां और विवाहित महिलाएँ भी उद्यान-यात्राओंमें या तो पुरुषोंके साथ या स्वतन्त्र रूपसे शामिल होती थीं। पर कामसूत्रपर अगर विश्वास किया जाय, तो इन यात्राओंमें लड़कियोंका जाना सब समय निरापद नहीं होता था—विशेष करके जब कि वे स्वतन्त्र रूपमें पिकनिकके लिये निकली हुई हों। असच्चरित्र पुरुष प्रायः बालिकाओंका अपहरण करते थे। इन उद्यान-यात्राओंमें जब दो प्रतिद्वन्द्वी नागरिकोंके मेष या लाव या कुक्कुट जूझते थे, तब प्रायः बाजी लगाई जाती थी और उस समय दोनों पक्षोंमें बड़ी उत्तेजनाका सञ्चार हो जाया करता था। कभी-कभी छोटी-मोटी लड़ाइयां भी जरूर हो जाती रही होंगी। कामसूत्रमें मेष, कुक्कुट और लावोंके युद्धको तथा शुक सारिकाओंके साथ आलाप करने-करानेको ६४ कलाओं में गिना गया है (साधारणाधिकरण, तृतीय)।

शुक-सारिकाएं केवल विलासी नागरिकोंके बहिर्द्वार पर ही नहीं मिलती थीं, बड़े-बड़े पण्डितोंके घरोंकी शोभा भी बढ़ाती थीं। शङ्कराचार्यको मण्डन मिश्रके घरका मार्ग बताते समय स्थानीय परिचारिकाने कहा था, जहां शुक-सारिकाएं 'स्वतः प्रमाणं' 'परतः प्रमाणं' का शास्त्रार्थ कर रही हों, वही मण्डन मिश्रका द्वार है—"स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरो गिरन्ति।" सुप्रसिद्ध कवि बाणभट्टने अपने पूर्व पुरुष कुबेरभट्टका परिचय देते हुए बड़े गर्वसे लिखा है कि उनके घरके शुकों और सारिकाओंने समस्त

अभ्यास कर लिया था, और यजुर्वेद और सामवेदका पाठ करते समय पद-पदपर ये पक्षी विद्यार्थियोंकी गलतियां पकड़ा करते थे :

जगुर्गृहेऽभ्यस्त समस्तवाङ्मयैः,
संसारिकैः पंजरवर्तिभिः शुकैः
निगृह्यमाणाः वटवः पदे पदे
यजूंषि सामानि च यस्य शंकिताः॥

(कादम्बरी, १२)

ऋषियोंके आश्रममें भी शुक-सारिकाओंका वास था। किसी वृक्षके नीचे शुक-शावकके मुखसे गिरे हुए नीवार (वन्य धान) को देखकर ही दुष्यन्तको यह समझनेमें देर नहीं लगी थी कि यहां किसी ऋषिका आश्रम है : (शकुन्तला, १-१४)।

वस्तुतः शुक-सारिका उस युगमें अन्तःपुरसे लेकर तपोवन तक सर्वत्र सम्मानित होते थे। मनुष्यके सुख-दुःखके साथ उनका सुख-दुःख इस प्रकार गुँथा हुआ था कि एकको दूसरेसे अलग नहीं किया जा सकता। अमरुक-शतकमें एक बड़ा ही मर्मस्पर्शी दृश्य है, जब कि मानवती गृहदेवीके दुःखसे दुःखी होकर प्रिय बाहर नखसे जमीन कुरेद रहा है, सखियोंने खाना बन्द कर दिया है, रोते-रोते उनकी आंखें सुज गई हैं और पिंजड़ेके सुग्गे अज्ञात वेदनाके कारण हंसना-पढ़ना बन्द किए सारे व्यापारको समझनेकी चेष्टा कर रहे हैं:—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितः
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः

परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पंजरशुकैः
तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना ।
(अमरुकशतक)

शुभाशुभ जाननेके लिये उन दिनों कई पक्षियोंकी गति-विधि पर विशेष ध्यान दिया जाता था। वस्तुतः शकुन (हिन्दी 'सगुन') शब्दका अर्थ ही पक्षी है। इन शकुन-निर्देशक पक्षियोंके कारण संस्कृत साहित्यमें एक अत्यन्त सुकुमार भावका प्रवेश हुआ है, और साहित्य इससे समृद्ध हो गया है। वराहमिहिरकी बृहत्संहितामें निम्नलिखित पक्षियोंको शकुन-सूचक पक्षी कहा गया है—श्यामा, श्येन, शशघ्न, वञ्जुल, मयूर, श्रीकर्ण, चक्रवाक, चाष, भाण्डीरक, खंजन, शुक, काक, तीन प्रकारके कपोत, भारद्वाज, कुलाल कुक्कुट, खर, हारीत, गृध्र, पूर्णकूट और चटक (बृ० सं० ८८।१)

संस्कृत-साहित्यमें इन पक्षियोंके शकुनके कारण बड़ी बड़ी घटनाओंके हो जानेका परिचय मिलता है। कभी-कभी शकुन-मात्रसे भावी राज्यक्रान्तिका अनुमान किया गया है और उसपरसे सारे प्लाटका आयोजन हुआ है। शकुन सूचक पक्षियोंके कारण सूक्तियां भी खूब कही गई हैं।

ऋतु-विशेषके अवसरपर पक्षी-विशेषका प्रादुर्भाव और उसका हृदय ढालकर किया हुआ वर्णन संस्कृत-साहित्यकी बेजोड़ सम्पत्ति है। भारतवर्षमें एक ही समय नाना प्रदेशोंमें ऋतुका विभेद रहता है। फिर गर्मी और सर्दीके घटते-बढ़ते रहनेसे एक ही वर्षमें कई बार ऋतु-परिवर्तन होता है। भिन्न-भिन्न ऋतुओंमें नये-नये पक्षी इस देशमें छा जाया करते हैं। संस्कृतके कवियोंने इन अतिथियोंका ऐसा मनोहर स्वागत किया है कि पाठक उन्हें कभी भूल नहीं सकता। बलाकाको उत्सुक कर देनेवाली, मयूरको मद विह्वल

देने वाली, चातकको चंचल कर देनेवाली और चकोरकी हर्ष-वर्षसे सेचन करने वाली वर्षा गई नहीं कि खंजरीट, कादम्ब, कारण्डव, चक्रवाक, सारस तथा क्रौंचकी सेना लिए हुए शरद् आ गई:—

"सखंजरीटा: सपय:प्रसादा सा कस्य नो मानसमाच्छिनत्ति।
कादम्बकारण्डवचक्रवाक ससारसक्रौंचकुलानुपाता।"
(काव्यमीमांसा, पृ० १०१)।

फिर वसन्त तो है ही शुक-सारिकाओंके साथ हारीत, दात्यूह, (महुअक) और भ्रमर श्रेणीके मदको वर्धन करनेवाला और पुंस्कोकिलके मधुर कूजनसे चित्त चंचल कर देने वाला:—

"चैत्रे मदर्द्धि: शुकसारिकाणां हारीत दात्यूहमधुव्रतानाम्।
पुंस्कोकिलानां सहकारबन्धुः मदस्य कालः पुनरेष एव॥
(काव्यमीमांसा, पृ० १०५)

ऋतुओंके प्रसंगमें कवियोंने बहुत अधिक पक्षियोंका बड़ी सहृदयतासे साथ वर्णन किया है।

१६—सुकुमार कलाओंका आश्रय

प्राचीन भारतका अन्तःपुर वस्तुतः सभी प्रकारकी सुकुमार कलाओंका घर था। यद्यपि साधारण श्रेणीके नागरिकोंके अन्तःपुर या बहिः प्रकोष्ठ उतने समृद्धि-युक्त नहीं हुआ करते होंगे जितना कि साधारणतः उस युगके राजभवनोंका वर्णन मिलता है पर निस्सन्देह कला और विद्याके आश्रय स्थान अन्तःपुर थे। मृच्छकटिक नाटकमें एक छोटा-सा वाक्य आता है जो काफी अर्थ है। इस नाटकके नायक चारुदत्तका एक पुराना संवाहक भृत्य था जिसने

संवाहन कला अर्थात् शरीर दबाने और सजानेकी विद्या सीखी थी। उसने दरिद्रता वश नौकरी कर ली थी। यही संवाहक अपने मालिक चारुदत्तकी दरिद्रताके कारण नौकरी छोड़कर जुआ खेलनेका अभ्यासी हो गया। एक बार चारुदत्तकी प्रेमिका गणिका वसन्तसेनाने उसकी विद्याकी प्रशंसा करते हुए कहा कि भद्र, तुमने बहुत सुकुमार कला सीखी है तो उसने प्रतिवाद करके कहा—नहीं आर्य, कला समझ कर सीखी जरूर थी, पर अब तो वह जीविका हो गई है।' इस कथनका अर्थ यह हुआ कि जीविका उपार्जनके काममें लगाई हुई विद्या कलाके सुवर्ण-सिंहासनसे विच्युत मान ली जाती थी। यही कारण था कि धनहीन नागरिक गण सर्वकला-पारंगत होनेपर नागरकके ऊंचे आसनसे उतरकर विट होनेको बाध्य होते थे। संवाहकका कार्य भी जो एक कला है वह अन्तःपुरमें ही प्रकट होती थी। अन्तःपुरिकाओंके वेश-विन्यास-में इस कलाका पूर्ण उपयोग होता था। सम्भ्रान्त परिवारोंमें अनेक संवाहि-काएं होती थीं जो गृहस्वामिनीका चरण-सम्वाहन भी करती थीं और नाना आभरणोंसे उस छविगृहको दीपशिखासे जगमग करनेका कार्य भी करती थीं। नागरिकोंको भी संवाहन आदि कर्म सीखने पड़ते थे। वियोगिनी प्रिय-तमासे हठात् मिलन होनेपर शीतल कलम-विनोदन व्यजनकी पखेकी मीठी-मीठी हवा जिस प्रकार आवश्यक होती थी उसी प्रकार कभी-कभी यह भी आवश्यक हो जाता था कि प्रियाके लाल-लाल कमल कोमल चरणोंको गोदमें रखकर इस प्रकार दबाया जाय कि उसे अधिक दबावका क्लेश भी न हो और विरह विधुर मजाततुओंको प्रियके करतल-स्पर्शका अमृतरस भी प्राप्त हो जाय!! इसीलिये नागरकको ये कलाएं जाननी पड़ती थीं। राजा दुष्यन्तने वियोगिनी शकुन्तलासे दोनों ही प्रकारकी सेवाकी अनुज्ञा मांगी थी:—

किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातैः
संचालयामि नलिनीदल तालवृन्तम् ।
अङ्के निधाय चरणावुत पद्मताम्रौ
संवाहयामि करभोरु यथासुखं ते ॥

[शकुन्तला, ३य अंक]

१७—बाहरी प्रकोष्ठ

नागरकके विशाल प्रासादका बहिः प्रकोष्ठ, जिसमें नागरक स्वयं रहा करता था बहुत ही शानदार होता था। उसमें एक शय्या पड़ी रहती थी जिसके दोनों सिरोंपर दो तकिया या उपाधान होते थे और ऊपर सफेद चादर या प्रच्छद पट पड़े होते थे। यह बहुत ही नर्म और बीचमें झुका हुआ होता था। इसके पास ही कभी-कभी एक दूसरी शय्या (प्रतिशय्यिका) भी पड़ी होती थी जो उससे कुछ नीची होती थी। शय्या बनानेमें बड़ी साव-धानी वर्ती जाती थी। साधारणतः असन, स्यन्दन, हरिद्र, देवदारु, चन्दन, शाल आदि वृक्षोंके काष्ठसे शय्याएं बनती थीं पर इस बातका सदा खयाल रखा जाता था कि चुना हुआ काष्ठ ऐसे किसी वृक्षसे न लिया गया हो जो वज्रपातसे गिर गया था या बाढ़के धक्केसे उखड़ गया था, या हाथीके प्रकोपसे धूलिलुण्ठित हो गया था, या ऐसी अवस्थासे काटा गया था जब कि वह फल-फूलसे लदा था या पक्षियोंके कलरवसे मुखरित था, या चैत्य या श्मशानसे लाया गया था या सूखी लतासे लिपटा हुआ था (वृ० सं० ७१-३)। ऐसे अमंगलजनक और अशुभ वृक्षोंको पुराना रईस अपने घरके सबसे अधिक कुमार स्थानपर नहीं ले जा सकता था। वराहमिहिरने ठीक ही कहा है

कि राज्यका सुख गृह है, गृहका सुख कलत्र है और कलत्रका सुख कोमल और मंगलजनक शय्या है, सो शय्या गृहस्थका मर्मस्थान है। चन्दनका खाट सर्वोत्तम माना जाता था, तिंदुक, शिशपा, देवदारु, असनके काठ अन्य वृक्षोंके काठसे नहीं मिलाए जाते थे। शाक और शालका मिश्रण शुभ हो सकता था, हरिद्रक और पदुमकाठ अकेले भी और मिलकर भी शुभ ही माने जाते थे। चारसे अधिक काष्ठोंका मिश्रण किसी प्रकार पसन्द नहीं किया जाता था। शय्यामें गजदन्तका लगाना शुभ माना जाता था पर शय्याके लिये गजदन्तका पत्तर काटना बड़ा भावाजीखीका व्यापार माना जाता था। उस दन्तपत्रके काटते समय भिन्न-भिन्न चिह्नोंसे भावी मंगल या अमंगलका अनुमान किया जाता था। खाटके पायोंमें गांठ या छेद बहुत अशुभ समझे जाते थे। इस प्रकार नागरकके खाटकी रचना एक कठिन समस्या हुआ करती थी (बृ० स० ७६ अ०)। यह तो स्पष्ट ही है कि आजके रईस-की भांति आर्डर देकर कोच और सोफेकी व्यवस्थाको हमारा पुराना रईस एकदम पसन्द नहीं करता होगा। बृहत्संहितासे यह भी पता चलता है कि खाट सब श्रेणीके आदमियोंके लिये बराबर एक जैसे ही नहीं बनते थे। भिन्न-भिन्न स्टेटसके व्यक्तियोंके लिये भिन्न-भिन्न मापकी शय्याएं बनती थीं। शय्याके सिरहाने कूर्च स्थानपर नागरकके इष्ट देवताकी कलापूर्ण मूर्ति रहती थी और उसके पास ही वेदिका पर माल्य चन्दन और उपलेपन रखे होते थे। इसी वेदिका पर सुगन्धित मोमबत्तीकी पिटारी (सिक्थ-करण्डक) और इत्रदान (सौगन्धिक पुटिका) रखा रहता था। मातुलुंगके छाल और पानके बीड़ोंके रखनेकी जगह भी यही थी। नीचे फर्शपर पीकदान या पतद्ग्रह रखा होता था। ऊपर हाथी दांतकी खूंटियोंपर कपड़ेके घे

लिपटी हुई वीणा रहती थी, चित्रफलक हुआ करता था, तूलिका और रंगके डिब्बे रखे होते थे, पुस्तकें रखी होती थीं और बहुत देर तक ताजी रहने-वाली कुरण्टक माला भी लटकती रहती थी। दूर एक आस्तरण (दरी) पड़ा रहता था जिसपर द्यूत और शतरंज खेलनेकी गोटियां रखी होती थीं। उस कमरेके बाहर क्रीड़ाके पक्षियों अर्थात् शुक, सारिका, लाव, तित्तिर, कुक्कुट आदिके पिंजड़े हुआ करते थे। शर्विलक नामक चोर जब चारुदत्तके घरमें घुसा था तो उसने आश्चर्यके साथ देखा था कि उस रसिक नागरकके घरमें कहीं मृदंग कहीं दर्दुर, कहीं पणव, कहीं वंशी और कहीं पुस्तकें पड़ी हुई थीं। एकबार तो वह यह भी सोचने लगा था कि यह किसी नाट्याचार्यका घर तो नहीं है। क्योंकि ये वस्तुएं एक ही साथ केवल दो स्थानों पर सम्भव थीं—धनी नागरकके बैठक गृहमें या फिर उस नाट्याचार्यके गृहमें जिसने कलाको आजीविका बना ली हो। चोरने घरकी दशासे सहज ही यह अनुमान कर लिया था कि धनी आदमीका घर तो यह होनेसे रहा। नाट्या-चार्यका हो तो हो भी सकता है।

वीणा और चित्रफलक ये दो वस्तुएं उन दिनोंके सहृदयके लिये नितान्त आवश्यक वस्तु थीं। चारुदत्तने ठीक ही कहा था कि वीणा जो है सो असमुद्रोत्पन्न रत्न है, वह उत्कंठितकी संगिनी है, उकताए हुएका विनोद है, विरहीका ढाढ़स है और प्रेमीका रागवर्धक प्रमोद है—

> **उत्कंठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या**
> **संकेतके चिरयति प्रवरो विनोदः।**
> **संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां**
> **रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः॥** (मृच्छकटिक ३-४)

लटके हुए चित्रित हैं। इन बल्लियोंका अभ्यन्तर गृहमें होना उन दिनों मांगल्य समझा जाता था। विद्याधरके तो अनेक चित्र नाना स्थानोंसे उद्धार किए गए हैं। अभिलषितार्थ चिन्तामणि आदि ग्रन्थोंमें इस भांतिकी चित्रकारीका विशद वर्णन दिया हुआ है। समृद्ध लोगोंके घरकी दीवालें स्फटिक मणिके समान स्वच्छ और दर्पणके समान चिकनी हुआ करती थीं। इनके ऊपर 'सूक्ष्म रेखा-विशारद' कलाकार, जो 'विद्युत्-निर्माण' में कुशल हुआ करते थे, पत्र लेखनमें कोविद होते थे, वर्णपूरण या रंग भरनेकी कलाके उस्ताद हुआ करते थे (३-१३४) नाना रसके चित्र अंकित करते थे। दीवालको पहले समान करके चूनेसे बनाया जाता था और फिर उसपर एक लेप द्रव्य लगाते थे भैंसके चमड़ेको पानीमें घोंटकर बनाया जाता था। इससे एक प्रकारका ऐसा वज्रलेप बनाया जाता था जो गर्म करनेपर पिघल जाता था और दीवालमें लगाकर हवामें छोड़ देनेसे सूख जाता था (३-१४६)। वज्रलेपमें सफेद मिट्टी मिलाकर या शंख चूर्ण और सिता (मिश्री) डाल कर भित्तिको चिकनी करते थे (३-१४) या फिर नीलगिरिमें उत्पन्न नग नामक सफेद पदार्थको पीसकर उसमें मिलाते थे। रंगकी स्थायिताके लिये भी नाना प्रकारके द्रव्योंके प्रयोगकी बात पुराने ग्रन्थोंमें लिखी हुई है। विष्णुधर्मोत्तरके अनुसार तीन प्रकारके ईंटके चूर्ण, साधारण मिट्टी, गुग्गुलु, मोम महुएका रस, मुसक, गुड़, कुसुम तेल और चूनेको घोंटकर उसमें दो भाग कच्चे बेलका चूर्ण मिलाते थे। फिर अन्दाजसे उपयुक्त मात्रामें बालुका देकर भीतपर एक महीने तक धीरे-धीरे पोतते थे। इस प्रकारकी और भी बहुतेरी विधियाँ दी हुई हैं जो सब समय ठीक-ठीक समझमें नहीं आतीं। भीत ठीक हो जानेपर उसपर चित्र बनाए जाते थे।

उल्लेख हमें काव्योंमें नहीं मिला है। कादम्बरीका पलंग बहुत बड़ा नहीं था, वह एक नीची चादर और धवल उपधान (सफेद तकिया) से समाच्छादित था। कादम्बरी उस शय्यापर वाम बाहुलताको ईषद् वक्र भावसे तकिया पर रख अधलेटी अवस्थामें परिचारिकाओंको भिन्न-भिन्न कार्य करनेका आदेश दे रही थी। यह तो नहीं बताया गया है कि किसी इष्ट देवताकी मूर्ति वहां थी या नहीं पर वेदिका पर ताम्बूल और सुगन्धित उपलेपन अवश्य थे। दीवालों पर इतने तरहके चित्र बने थे कि चन्द्रापीड़को भ्रम हुआ था कि सारी दुनिया ही कादम्बरीकी शोभा देखनेके लिये चित्र रूपमें सिमट आई थी। दीवालोंके ऊपरी भाग पर कल्पवल्लीके चित्रका भी अनुमान होता है क्योंकि सैकड़ों कन्याओंने उस कल्पवल्लीके समान ही कादम्बरीको घेर लिया था। छतमें अधोमुख विद्याधरोंके मनोहर चित्र अंकित थे। नील चादरके ऊपर श्वेत तकियेका सहारा लेकर अर्द्धशायित कादम्बरी महावराहके श्वेत दतका आश्रय ग्रहण की हुई धरित्रीकी भांति मोहनीय दिख रही थी। काव्य ग्रन्थोंके पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है कि केवल नीली ही नहीं, नाना रंगोंकी और बिना रंगकी भी चादरें शय्याके आस्तरणके लिये व्यवहृत होती थीं। ताम्बूल और अलक्तकसे रंगी चादरें सखियोंकी परिहासका मसाला जुटाया करती थीं।

१९—चित्रकारी

भरहुत (द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व) में नाना भांति की कल्प वल्लियोंका संधान पाया गया है। इसपर से अनुमान किया जा सकता है कि दीवालों और छतोंकी धरनोंपर अंकित कल्पवल्लियां कैसी बनती होंगी। इन वल्लियोंमें नाना प्रकारके आभूषण, वस्त्र, पुष्प, फल, मुक्ता रत्न आदि

पर इस विद्याके द्वारा अपना मनोविनोद करती थीं। चित्र नाना आधारोंपर बनाए जाते थे—काठ या हाथी दाँतके चित्र फलक पर, चिकने शिलापट्ट पर, कपड़ेपर और भीतपर। भीतपरके चित्रोंकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। पंचदशी नामक वेदान्त ग्रन्थसे जान पड़ता है कि कपड़े पर बनाए जाने वाले चित्र चार अवस्थाओंसे गुजरते थे, धौत, मंडित, लांछित और रंजित। कपड़ेका धोया हुआ रूप धौत है, उसपर चावल आदिके माड़से घोंटाई मंडित है, फिर काजल आदिकी सहायतासे रेखांकन लाञ्छित है और उसमें रङ्ग भरना रंजित अवस्था है (६-१—३)। सम्भ्रान्त परिवारमें अन्तःपुरकी देवियोंमें चित्र विद्याका कैसा प्रचार था इसका अन्दाजा इसी बातसे लगाया जा सकता है कि कामसूत्रमें जो उपहार लड़कियोंके लिये अत्यन्त आकर्षक हो सकते हैं उनकी सूचीमें एक पटोलिकाका स्थान प्रधान रूपसे है। इस पटोलिकामें अलक्तक, मनःशिला, हरिताल, हिंगुल और श्यामवर्णक (राजावर्तका चूर्ण ?) रहा करते थे। जैसा कि ऊपर बताया गया है, इन पदार्थोंसे शुद्ध और मिश्र रंग बनाए जाते थे। संस्कृत नाटकोंमें शायद ही कोई ऐसा हो जिसमें प्रेमी या प्रेमिका अपनी विरह वेदनाको प्रियका चित्र बनाकर न हल्की की हो। कालिदासके ग्रन्थोंसे जान पड़ता है कि विवाहके समय देवताओंके चित्र बनाकर पूजे जाते थे, वधुओंके दुकूल पट्टके आँचलमें हंसोंके जोड़े आँक दिए जाते थे, और चित्र देखकर वर-वधूके विवाह सम्बन्ध ठीक किए जाते थे।

चार प्रकारके चित्रोंका उल्लेख पुराने ग्रन्थोंमें आता है। विद्ध अर्थात् जो वास्तविक वस्तुसे इस प्रकार मिलता हो जैसे दर्पणमें की छाया, अविद्ध या काल्पनिक (अर्थात् चित्रकारके भावोल्लासकी उमंगमें बनाए हुए चित्र,) रस चित्र और धूलि चित्र। सभी चित्रोंमें विद्धकी प्रशंसा होती थी।

चित्रोंमें कई प्रकारके रंग काममें लाए जाते थे। घने वांसकी नालिकाके आगे तामेका सूच्यग्र शंकु लगाते थे जो जौ भर भीतर और इतना ही बाहर रहता था। इसे तिन्दुक कहते थे। तूलिकामें; बछड़ेके कानके पासके रोएं लगाए जाते थे और चित्रणीय रेखाओंके लिये मोम और भातमें काजल रगड़ कर काला रंग बनाते थे। वंशनालीके आगे लगे हुए-ताम्रशंकुसे महीन रेखा खींचनेका कार्य किया जाता था। चित्र केवल रेखाओंके भी होते थे और रेखाओंमें रंग भरकर भी बनाए जाते थे;। 'लाइट और शेड' की भी प्रथा थी। अभिलषितार्थमें कहा गया है कि जो स्थान निम्नतर हो वहां एक रंगे चित्रमें श्यामलवर्ण होना चाहिए और जो स्थान उन्नत हो वह उज्वल या फीके रंगका। रंगीन चित्रोंमें नाना प्रकारके रंगोंका विन्यास करते थे। श्वेत रंग शंखको चूर्ण करके बनाया जाता था, शोण दरदसे, रक्त (लाल) अलक्तकसे, लोहित गेरूसे, पीत हरितालसे, और काला रंग काजलसे बनता था। इनके मिश्रणसे, कमल, सौराभ (?) घोरात्व (?) धूमच्छाय, कपोताश्व, अतसी पुष्पाभ, नीलकमलके समान, हरित, गौर, श्याम, पाटल, कर्वुर आदि अनेक मिश्र रंग बनते थे।

अन्तःपुरिकाओंके मनोविनोदके अनेक साधन थे जिनमें चित्र-कर्मका प्रमुख स्थान था। विष्णुधर्मोत्तर पुराणके चित्र-सूत्रमें कहा गया है (३-४५-३८) कि समस्त कलाओंमें चित्रकला श्रेष्ठ है। वह धर्म अर्थ काम और मोक्ष चारों पदार्थोंको देने वाली है। जिस गृहमें इस कलाका वास रहता है वह परम मांगल्य होता है। हमने पहले ही देखा है कि उन दिनों प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्तिके कमरेमें चित्रकलक और समुद्गक या रंगोंकी डिवियाका रहना आवश्यक माना जाता था। अन्तःपुरिकाएं अवसर मिलने

सींगोंमें मृगी अपने बामनयनोंको खुजलाती हुई रसाविष्ट है, वह शकुन्तला अपूर्ण है। मनुष्य अपने सम्पूर्ण वातावरणके साथ ही पूर्ण हो सकता है और जीवनमें जो बात सत्य है वही चित्रमें भी सत्य है। राजाने इस सत्यको अनुभव किया, उसने शकुन्तलाको उसकी सम्पूर्ण परिवेष्टनीमें अंकित करनेकी इच्छा प्रकट की :—

> कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
> पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
> शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
> शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥
>
> (शकुन्तला षष्ठ अंक)

केवल भावमनोहर शकुन्तला राजा दुष्यन्तका व्यक्तिगत सत्य है, वस्तुतः वह उससे बड़ी है। वह विश्वप्रकृतिके सौ सौ हजार विकसित पुष्पोंमें से एक है, वह सारे आश्रमको पवित्र और मोहन बनाने वाले उपादानोंमें एक है और इसीलिये इन सबके साथ अविच्छिन्न भावसे संश्लिष्ट है। उस एक तार पर आघात करनेसे सब अपने आप झंकृत हो जाते हैं। वही शकुन्तला अपना अन्त आप नहीं है, बल्कि इस समस्त दृश्यमान सत्ताके भीतर निहित एक अखण्ड अविच्छेद्य 'एक' की ओर संकेत करती है। यही चित्रका प्रधान लक्ष्य है। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि जो कला अपने आपको ही अन्तिम लक्ष्य सिद्ध करती है वह मायाका कंचुक है और जो उस 'एक' परम तत्त्वकी ओर मनुष्यको उन्मुख करती है वह मुक्तिका साधन है। राजाका बनाया हुआ चित्र अन्तमें जाकर इतना सफल हुआ कि वह खुद ही अपनेको भूल गया। वह चित्रस्थ भ्रमरको उपालम्भ करने लगा। प्राचीन साहित्यमें

विष्णुधर्मोत्तर उस उस्तादको ही चित्रविद् कहनेको राजी है जो सोए आदमीमें चेतना दिखा सके, मरेमें उसका अभाव चित्रित कर सके, निम्नोन्नत विभागको ठीक-ठीक अंकित कर सके, तरंगकी चञ्चलता अग्निसिखाकी कम्प्रगति, धूमका तरंगित होना, और पताकाका लहराना दिखा सके। वस्तुतः उन दिनों चित्रविद्या अपने चरम उत्कर्षको पहुंच चुकी थी।

२०—चित्रगत चमत्कार

पुरानी पुस्तकोंमें चित्रगत चमत्कारकी अनेक अनुश्रुतियां पाई जाती है। कहते हैं कि काश्मीरके अनन्त वर्माके प्रासाद पर जो आमके फल अंकित थे उनमें कौए ठोकर मार जाया करते थे। उन्हें उनके वास्तविक होनेका भ्रम होता था। शकुन्तला नाटकमें राजा दुष्यन्त अपने ही वनाए हुए चित्रकी विद्धतासे स्वयमेव मुह्यमान हो गए थे। यद्यपि नाटककारका अभिप्राय राजाके प्रेमका आतिशय्य दिखाना ही है परन्तु कई वातें उसमें ऐसी हैं जो चित्र सम्वन्धी उस युगके आदर्शको व्यक्त करती हैं। इस आदर्शका मूल्य इसलिये और भी बढ़ गया है कि वह कालिदास जैसे श्रेष्ठ कविकी लेखनीसे निकला है। भारत वर्षका जो कुछ सुन्दर है, भव्य है, सुरुचिपूर्ण और कोमल है उसके श्रेष्ठ प्रतिनिधि कालिदास हैं। सो, शकुन्तलाके भाव-मनोरम चित्रको वनानेके वाद राजा दुष्यन्तको लगा कि शकुन्तला अधूरी ही है। थोड़ा सोचकर राजाने अपनी गलती महसूस की। जिस शकुन्तलाको हम हिमालयके उस पवित्र आश्रममें नहीं देखते जिसमें मृग गण बैठे हुए हैं, स्रोतोवहा मालिनी सिक्त कर रही है, उसके सैकत (वालू)-पुलिनमें हंस-थुन लीन हैं, आश्रम तरुओंमें तपस्वियोंके वल्कल टंगे हैं, कृष्णसार मृगकी

सींगोंमें मृगी अपने वामनयनोंको खुजलाती हुई रसाविष्ट है, वह शकुन्तला अपूर्ण है। मनुष्य अपने सम्पूर्ण वातावरणके साथ ही पूर्ण हो सकता है और जीवनमें जो बात सत्य है वही चित्रमें भी सत्य है। राजाने इस सत्यको अनुभव किया, उसने शकुन्तलाको उसकी सम्पूर्ण परिवेष्टनीमें अंकित करनेकी इच्छा प्रकट की :—

> कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
> पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
> शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
> शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥
>
> (शकुन्तला षष्ठ अंक)

केवल भावमनोहर शकुन्तला राजा दुष्यन्तका व्यक्तिगत सत्य है, वस्तुतः वह उससे बड़ी है। वह विश्वप्रकृतिके सौ सौ हजार विकसित पुष्पोंमें से एक है, वह सारे आश्रमको पवित्र और मोहन बनाने वाले उपादानोंमें एक है और इसीलिये इन सबके साथ अविच्छिन्न भावसे संश्लिष्ट है। उस एक तार पर आघात करनेसे सब अपने आप झंकृत हो जाते हैं। वही शकुन्तला अपना अन्त आप नहीं है, बल्कि इस समस्त दृश्यमान सत्ताके भीतर निहित एक अखण्ड अविच्छेद्य 'एक' की ओर संकेत करती है। यही चित्रका प्रधान लक्ष्य है। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि जो कला अपने आपको ही अन्तिम लक्ष्य सिद्ध करती है वह मायाका कंचुक है और जो उस 'एक' परम तत्त्वकी ओर मनुष्यको उन्मुख करती है वह मुक्तिका साधन है। राजाका बनाया हुआ चित्र अन्तमें जाकर इतना सफल हुआ कि वह खुद ही अपनेको भूल गया। वह चित्रस्थ भ्रमरको उपालम्भ करने लगा। प्राचीन साहित्यमें

ऐसे विद्ध चित्रोंकी बात बहुत प्रकारसे आई है। रत्नावलीमें सागरिकाने राजा उदयनका चित्र बनाया था और उसकी सखी सुसंगताने उस चित्रके बगलमें सागरिकाका चित्र बना दिया था। सागरिकाके आंखोंमें प्रणय-दुराशाके जो अश्रु थे वे इतने माहक बने थे कि राजाने जब उस चित्रको देखा तो उसके समस्त अंगोंसे बिछला-बिछला कर उसकी दृष्टि बार चित्रके उन 'जललव-प्रस्यन्दिनी लोचने' पर ही पड़ती थी :—

कृच्छ्रादूरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले।
मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविषमे निष्पन्दतामागता॥
मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारुह्य तुंगस्तनौ।
साकांक्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यंदिनी लोचने॥

(रत्नावली २-३५)

संस्कृत साहित्यमें शायद ही दो तीन नाटक ऐसे मिलें जिनमें विद्ध चित्रोंके चमत्कारका वर्णन न हो। चित्र उन दिनों विरहीके विनोद थे, वियोगियोंके मेलापक थे, प्रौढ़ोंके प्रीति-उद्रेचक थे, गृहोंके शृंगार थे, मन्दिरोंके मांगल्य थे, सन्यासियोंके साधना-विषय थे, और राहगीरोंके सहारे थे। प्राचीन भारत चित्रकला मर्मज्ञ साधक था।

विष्णुधर्मोत्तर पुराणके चित्रसूत्रमें कहा गया है कि समस्त कलाओंमें चित्रकला श्रेष्ठ है। वह धर्म अर्थ काम और मोक्षको देनेवाली है। जिस-गृहमें यह कला रहती है वह गृह मांगल्य होता है (३ य खंड ४५।४८)।

महत्त्वपूर्ण बात यह कही गई है कि नृत्य और चित्रका बड़ा है। मार्कण्डेय मुनिने कहा था कि नृत्य और चित्र दोनोंमें ही अनुकृति होती है। महानृत्यमें दृष्टि हाथ भाव आदि की जो

भंगी बताई गई है वह चित्रमें भी प्रयोज्य है क्योंकि वस्तुतः नृत्य ही परम चित्र है—नृत्यं चित्रं परं स्मृतम् ।

सोमेश्वरकी अभिलाषितार्थ चिन्तामणि नामक पुस्तकमें चार प्रकारके चित्रोंका उल्लेख है—(१) विद्ध चित्र जो इतना अधिक वास्तविक वस्तुसे मिलता हो कि दर्पणमें पड़ी परछाईंके समान लगता हो, (२) अविद्ध चित्र जो काल्पनिक होते थे और चित्रकारके भावोल्लासकी उमंगमें बनाए जाते थे, (३) रस चित्र जो भिन्न-भिन्न रसोंकी अभिव्यक्तिके लिये बनाए जाते थे और (४) धूलि चित्र। इस ग्रन्थमें चित्रमें सोनेके उपयोगकी भी विधि दी हुई है। शास्त्रीय ग्रन्थोंके देखनेसे पता चलता था कि उन दिनों चित्रके विषय अनेक थे केवल शृंगार चेष्टा या धर्माख्यान एक ही उनकी सीमा नहीं थी। धार्मिक और ऐतिहासिक आख्यानोंके लम्बे-लम्बे पट उन दिनों बहुत प्रचलित थे। कामसूत्रमें ऐसे आख्यानकपटोंका उल्लेख है (पृ० २६) और मुद्राराक्षस नाटकमें यमपटोंकी कहानी है। देवता, असुर, राक्षस, नाग, यक्ष किन्नर, वृक्ष-लता पशु-पक्षी सब कुछ चित्रके विषय थे। इनकी लम्बाई चौड़ाई आदि के विषयमें शास्त्र-ग्रन्थोंमें विशेष रूपसे लिखा हुआ है।

स्थायी नाट्य-शालाओंकी दीवारें चित्रोंसे अवश्य भूषित होती थी। चित्र और नाट्यको परस्परका मंगलजनक माना जाता था। भित्तिको सजाने के लिये पुरुष, स्त्री और लताबन्धके चित्र होना आवश्यक माना जाता था। (नाट्य शास्त्र २-८५-८६)। लताबन्धमें कमल और हंस अवश्य अंकित होते थे क्योंकि कमलको और हंसको गृहकी समृद्धिका हेतु समझा जाता था। यह लक्ष्य किया जा चुका है कि भारतीय नाटकोंका एक प्रधान कथा वस्तुका उपादान चित्र कर्म था।

संस्कृत नाटकोंमें शायद ही कोई ऐसा हो, जिसमें प्रेमी या प्रेमिका अपनी गाढ़ विरह-वेदनाको प्रियके चित्र बना कर न हल्की करती हो। मृच्छकटिककी गणिका वसन्तसेना चारुदत्तका चित्र बनाती है, शकुन्तला नाटकका नायक दुष्यन्त विरही होकर प्रियतमाका चित्र बनाकर मन बहलाता है, रत्नावलीमें तो चित्रफलक ही नाटकके द्वन्द्वको तीव्र और भावको सान्द्र बना देता है। उत्तर चरितमें राम जानकी अपने पूर्वतर चरित्रोंका चित्र देखकर विनोद करते हैं। कालिदासके ग्रन्थोंसे जान पड़ता है कि विवाहके समय देवताओंके चित्र बनाकर पूजे जाते थे, वधुओंके दुकूल-पट्टके आंचलमें हंसके जोड़े बनाए जाते थे और चित्र देखकर वर वधूके सम्बन्ध ठीक किए जाते थे। ध्वस्त अयोध्या नगरी-वर्णन-प्रसंगमें महाकविने कहा है कि प्रासादोंकी भित्ति पर पहले नाना भांतिके पद्मवन चित्रित थे और उन पद्म वनोंमें बड़े-बड़े मातंग (हाथी) चित्रित थे, जिन्हें उनकी प्रियतमा करेणु-बालाएं मृणाल खण्ड देती हुई अंकित की गई थीं। ये चित्र इतने सजीव थे कि उन्हें वास्तविक हाथी समझ कर आजकी विध्वस्तावस्थामें वहींके रहनेवाले सिंहोंने अपने तेज नाखूनोंसे उनका कुम्भस्थल विदीर्ण कर दिया है। बड़े-बड़े महलोंमें जो लकड़ीके खम्भे लगे हुए थे, उनपर मनोहर स्त्री मूर्तियां अंकित थीं और उनमें रंग भी भरा गया था। अवस्थाके गिरनेसे वे दाग मूर्तियां फीकी पड़ गई थीं। आज सांपोंकी छोड़ी हुई केंचुलें ही उनके स्तनस्थलके आवरण योग्य दुकूल वस्त्रका कार्य कर रही हैं।

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभंगाः ।
नखांकुशाघातविभिन्नकुंभाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥

स्तंभेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः॥

—रघुवंश १६-१६-१७

जान पड़ता है, उन दिनों इस प्रकारके चित्र बहुत प्रचलित थे। अजन्ता में हूबहूएक वैसा ही चित्र है, जैसा कि कालिदासने ऊपरके हाथीवर्णनके प्रसंगमें कहा है। दुर्भाग्यवश कालके निर्मम स्रोतमें उस युगकी दारुमयी स्तम्भ प्रतिमायें एकदम बह गई हैं। नहीं तो इसका भी कुछ उदाहरण मिल ही जाता।

नाटकादिमें चित्रका जो प्रसंग आता है, उसमें सर्वत्र विद्ध चित्रकी ही प्रशंसा मिलती है, अर्थात् जो चित्र देखनेमें ठीक हू-ब-हू मूल वस्तुसे मिल जाता था वही प्रशंसनीय समझा जाता था। कालिदासकी शकुन्तलामें एक विचारास्पद अर्थवाला श्लोक आता है, जिसमें शायद चित्रकी अपूर्णताकी ओर इशारा किया गया है। राजा दुष्यन्तने शकुन्तलाका जो चित्र बनाया था, जिसमें शकुन्तलाके दोनों नेत्र कान तक फैले हुए थे, भ्रूलता लीला द्वारा कुंचित थे, अधर देश उज्जल दसन-छविकी ज्योत्स्नासे समुद्भासित थे, ओष्ठ प्रदेश पके ककन्धूके समान पाटल वर्णके थे, विभ्रम-विलासकी मनोहारिणी छवि की एक तरल धारा सी जगमगा उठी थी, चित्रगत होनेपर भी मुखमें ऐसी सजीवता थी कि जान पड़ता था अब बोला अब बोला—

दीर्घापांगविसारि नेत्रयुगलं लीलांचितभ्रूलतं
दन्तान्तःपरिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाविलिप्ताधरम्
कर्कन्धूद्युतिपाटलोष्ठरुचिरं तस्यास्तदेतन्मुखम्
चित्रेऽप्यालपतीव विभ्रमलसत्प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवम् ॥१०२॥

मिश्रकेशी नामक शकुन्तलाकी सखीने इस चित्रको देखकर आश्चर्यके साथ अनुभव किया था कि मानो उसकी सखी सामने ही खड़ी है। पर राजाको सन्तोष नहीं था। इतना भावपूर्ण सजीव चित्र भी कुछ कमी लिए हुए था। राजाने कहा कि—चित्रमें जो जो साधु अर्थात् ठीक नहीं होता, उसे दूसरे ढंगसे (अन्यथा) किया जाता है, तथापि उसका लावण्य रेखासे कुछ अन्वित हुआ है।—

यद् यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्॥ १०३

इन वाक्योंका अर्थ पंडितोंने कई प्रकारसे किया है। पर जान पड़ता है कि राजाका भाव यही है कि हजार यत्न किया जाय मूल वस्तुका भाव चित्रमें नहीं आ पाता। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि कालिदासने चित्रमें जो जो गुण बताए हैं, वे निश्चित रूपसे उत्तम कलाके सबूत हैं। यह जो बोलता-बोलता भाव है, या फिर ऊंचे स्थानोंका ऊंचा दिखाना, निम्न स्थानोंका निम्न दिखना, शरीरमें इस प्रकार रंग और रेखाका विन्यास करना कि मृदुता और सुकुमारता निखर आवे, मुखपर ऐसा भाव चित्रित करना कि प्रेम दृष्टि और मुसुकान-भरी वाणी प्रत्यक्ष हो उठे—

अस्यास्तुंगमिव स्तनद्वयमिदं निम्नेव नाभिः स्थिता
दृश्यन्ते विषमोन्नताश्च वलयो भित्तौ समायामपि
अंगे च प्रतिभाति मार्दवमिदं स्निग्धप्रभावाच्चिरं
प्रेम्णा मन्मुखमीषदीक्षत इव स्मेरा च वक्तीव माम्॥

(षष्ठ अंक)

यह निस्सन्देह बहुत ही उत्तम कलाका निदर्शन है। किन्तु विष्णुधर्मोत्तरके चित्रसूत्रके आचार्यको इतना ही काफी नहीं जान पड़ता। वे और भी सूक्ष्मता चाहते हैं, और भी कौशल होनेपर दाद देना स्वीकारते हैं। जो चित्रकार सोए हुए आदमीमें चेतना दिखा सके, या मरे हुएमें चेतनाका अभाव दिखा सके, निम्नोन्नत विभागको दिखा सके, तरंगकी चंचलता, अग्नि-शिखाकी कम्प्रगति, धूमका तरंगित होना और पताकाका लहराना दिखा सके, असलमें उसे ही आचार्य चित्रविद् कहना चाहते हैं :

तरंगाग्निशिखाधूमवैजयन्त्यम्बरादिकम्।
वायुगत्या लिखेद्यस्तु विज्ञेयः सतु चित्रवित्॥
सुप्तं च चेतनायुक्तं मृतं चैतन्यवर्जितम्।
निम्नोन्नतविभागं च यः करोति स चित्रवित्॥

ऐसा जान पड़ता है कि विद्ध चित्रोंके चित्रणमें उन दिनों पूरी सफलता मिली थी। राजा और रानियोंकी पुरुष प्रमाण प्रतिकृति उन दिनों नियमित रूपसे राजघरानोंमें सुरक्षित रहती थी। हर्षचरितमे जान पड़ता है कि श्राद्धके बाद पहला कार्य होता था मृत व्यक्तिका आलेख्य बनाना। यद्यपि अन्तःपुर और समृद्ध नागरकोंके बहिर्निवासमें ही कलाका अधिक उल्लेख मिलता है, तथापि साधारण जनतामें भी इस कलाका प्रचार रहा होगा। संस्कृत नाटकों और नाटिकाओंमें परिचारिकाओंको प्रायः चित्र बनाते अंकित किया गया है। प्राचीन ग्रन्थोंसे इस बातका सबूत भी मिल जाता है कि उन दिनों स्वयं लोग अपना चित्र भी बनाते थे। भारतवर्षने उस कालमें इस विद्यामें जो चरम उत्कर्ष प्राप्त किया था उसका ज्वलन्त प्रमाण अजन्ता और बेलूर (एलोरा) आदि की गुफाएं हैं।

२१—कुमारी और वधू

अन्तःपुरकी कुमारियां विवाहिता वधुओंकी अपेक्षा अधिक कला प्रवीण होती थीं। वे वीणा बजा लेती थीं, वंशी वाद्यमें निपुण होती थीं, गानविद्यामें दक्षता प्राप्त करती थीं, द्यूत क्रीड़ाकी अनुरागिणी होती थीं, अष्टापद या पासाकी जानकार होती थीं, चित्रकर्ममें मिहनत करती थीं, सुभाषितोंका अर्थात् अच्छे श्लोकोंका पाठ कर सकती थीं, और अन्य अनेकविध कलाओंमें निपुण होती थीं; अन्तःपुरकी वधुएं पर्देमें रहती थीं, उनके सिरपर अवगुंठन या घूंघट हुआ करता था और चार अवसरोंके अतिरिक्त अन्य किसी समय उन्हें कोई देख नहीं सकता था। ये चार अवसर थे यज्ञ, विवाह, विपत्ति और वन-गमन। इन चार अवस्थाओंमें वधूका देखना दोषावह नहीं माना जाता था। प्रतिमा नाटकमें इसीलिये श्री रामचन्द्रने कहा है—

स्वैरं हि पश्यन्तु कलत्रमेतद्
वाष्पाकुलाक्षैर्वदनैर्भवन्तः।
निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो
यज्ञे विवाहे व्यसने वने च।

(प्रतिमा० १·२९)

हम अन्यत्र यज्ञ और विवाहके अवसरोंपर पौर वधुओंको देखनेका अवसर पाएंगे। व्यसन अर्थात् विपत्तिके देखनेका मौका भी हमें इस पुस्तकमें नहीं मिलेगा, परन्तु प्राचीन भारतकी अन्तःपुर वधूको यदि हम व्यसन (विपद्) के अवसर पर न देखें तो उसका ठीक-ठीक परिचय नहीं पा सकेंगे। वधूके व्यसन (विपत्ति) कई थे, रोग, शोक, सपत्नी-निर्यातन, पतिका औदासीन्य और

सबसे बढ़कर पुत्रका न होना। इन अवसरों पर वह कठिन व्रतोंका अनुष्ठान करती थी, ब्राह्मणों और देवताओंकी पूजा करती थी, उपवास करके स्नानादिसे पवित्र हो गुग्गुल धूपसे धूपित चण्डी-मण्डपमें कुशासन बिछाकर वास करती थी, गोशालाओंमें आकर सौभाग्यवती धेनुओं—जिन्हें वृद्ध गोपिकाएं सिन्दूर, चन्दन और माल्यसे पूजा कर देती थीं—की छायामें स्नान करती थी, रत्नपूर्ण तिलपात्र ब्राह्मणोंको दान करती थी, ओझोंकी शरण जाती थी और कृष्ण चतुर्दशीको रातको चतुष्पथ (चौराहे) पर दिक्पालोंको बलि देती थी, ब्राह्मी आदि मातृकाओंकी पूजा करती थी, अश्वत्थादि वृक्षोंकी परिक्रमा करती थी, स्नानके पश्चात् चांदीके पात्रमें अक्षत दधिमिश्रित जलका उपहार गौवोंको खिलाती थी, पुष्प धूप आदिसे दुर्गा देवीकी पूजा करती थी, सत्यवादी क्षपणक साधुओंको अन्नका उपढौकन देकर भावी मंगलके विषयमें प्रश्न करती थी, विप्रश्निका कही जानेवाली स्त्री ज्योतिषियोंसे भाग्य गणना कराती थी, अंगोंका फड़कना तथा अन्यान्य शुभाशुभ शकुनोंका फल दैवज्ञसे पूछती थी, तांत्रिक साधकोंके बताए गुप्त मन्त्रोंका जप करती थी, ब्राह्मणोंसे वेदपाठ कराती थी, स्वप्नका फल महाचार्योंसे पुछवाती थी और चत्वरमें शिवावलि (शृगालियोंको उपहार) देती थी। इस प्रकार यद्यपि वह अवरोध-में रहती थी (कादम्बरी), तथापि पूजा पाठ और अपने विश्वासके अनुसार अन्यान्य मांगल्य अनुष्ठानोंके समय वह बाहर निकल सकती थी।

२२—उत्सवमें वेशभूषा

पुरुष और स्त्री दोनोंके लिये यह आवश्यक था कि वे उत्सवोंमें पूर्ण अलंकृत होके जायँ। अलंकार तीन प्रकारके माने गए हैं—स्वाभाविक, अयत्नज और बाह्य। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित मोट्टा-

यित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित और विहृत ये स्त्रियोंके स्वाभाविक अलंकार हैं। अलंकार ग्रन्थोंमें इनका विस्तृत विवरण मिलेगा। अयत्नज अलंकार पुरुषोंके और स्त्रियोंके अलग-अलग माने जाते थे। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैय, प्रगल्भता और औदार्य स्त्रियोंके अयत्न-साधित अलंकार हैं और शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीय, ललित, औदार्य और तेज पुरुषोंके। शास्त्रोंमें इनके लक्षण वताए गए हैं (नाट्य शास्त्र २४.२४-३९) वस्तुतः इन स्वाभाविक अलकारोंसे ही पुरुप या स्त्रीका सौन्दर्य खिलता है। वाह्य अलकार तो स्वाभाविक सौन्दर्यको ही पुप्ट करते हैं। कालिदासने ठीक ही कहा था कि कमलका पुष्प शैवाल जालसे अनुविद्ध हो तो भी सुन्दर लगता है, चन्द्रमाका काला धव्वा मलिन होकर भी शोभा विस्तार करता है, उसी प्रकार वल्कल धारण करने पर भी शकुन्तलाका रूप अधिक मनोज्ञ हो गया है। मधुर आकृतियोंके लिये कौन सी वस्तु अलंकार नहीं हो जाती ?—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् !

परन्तु फिर भी यह आवश्यक माना जाता था कि नागरिक लोग देश कालकी परिपाटी समझें, अलंकरणोंका उचित सन्निवेश जानें, और सामाजिक उत्सवोंके अवसर पर सुरुचि और सुसंस्कारका परिचय दें। उस युगके शास्त्रकारोंने इस वातपर जोर दिया है कि युवक-युवतियोंको गुण अलकार जीवित और परिकरका ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि गुण शोभाका समुत्पादक है, अलंकार समुद्दीपक है, जीवित अनुप्राणक है, परिकर व्यंजक है, ये एक

दूसरेके उपकारक हैं, और इसीलिये परस्परके अनुग्राहक भी हैं। गुण और अलङ्कारसे ही शरीरमें उत्कर्ष आता है। शोभा-विधायक धर्मोंको गुण कहते हैं। वे ये हैं :—

रूपं वर्णः प्रभा रागः आभिजात्यं विलासिता
लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमी गुणाः।

शरीर अवयवोंकी रेखामें स्पष्टताको रूप कहते हैं, गौरता श्यामता आदि को वर्ण कहते हैं, सूर्यकी भांति चमक (काचकाच्य) वाली कान्तिको प्रभा कहते हैं अधरोंपर स्वाभाविक हंसी खेलते रहनेके कारण सबकी दृष्टि आकर्षण करनेवाले धर्मको राग कहते हैं, फूलके समान मृदुता और पेशलता नामक वह गुण जो लालनादिके रूपमें एक विशेष प्रकारका स्पर्श या सहलाव होता है उसे आभिजात्य कहा गया है, अँगों और उपांगोंसे युवावस्थाके कारण फूट पड़नेवाली विभ्रम विलास नामक चेष्टाए जिनमें कटाक्ष भुजक्षेप आदिका समुचित मात्रामें योग रहता है, विलासिता कहलाती है। चन्द्रमाकी भांति आह्लादकारक सौन्दर्यका उत्कर्ष-भूत स्निग्ध मधुर वह धर्म जो अवयवोंके उचित सन्निवेशसे व्यंजित होता रहता है लावण्य कहा जाता है। वह सूक्ष्म भंगिमा जो अग्राम्यताके कारण वक्रिमत्वव्यापिनी अर्थात् बाह्य शिष्टाचार और परिपाटीको प्रकट करनेवाली होती है जिससे तांबूलसेवन, वस्त्र परिधान, नृत्त-सुभाषित आदिके व्यवहारमें वक्ताका उत्कर्ष प्रकट होता है छाया कहलाती है, सुभग उस व्यक्तिको कहते हैं जिसके भीतर प्रकृत्या वह रंजक गुण होता है जिससे सहृदय लोग उसी प्रकार स्वयमेव आकृष्ट होते हैं जिस प्रकार पुष्पके परिमलसे भ्रमर, उसी सुभग व्यक्तिके आन्तरिक वशीकरण धर्म-विशेषको सौभाग्य कहते हैं। सहृदयके

अन्दर ये दस गुण विधाताकी ओरसे मिले होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति इच्छा करनेसे ही इन्हें नहीं पा सकता। वे जन्मांतरके पुण्यार्जनसे प्राप्त होते हैं।

२३—अलंकार

सहृदयके अलंकार सात ही हैं :

रत्नं हेमांशुके माल्यं मण्डन द्रव्ययोजने।
प्रकीर्णं चेत्यलंकाराः स्वप्नैवेते मया मताः।

वज्र-मुक्ता-पद्मराग-मरकत-इन्द्रनील-वैदूर्य-पुष्पराग-कर्केतन-पुलक-रुधिराक्ष भीष्म-स्फटिक-प्रवाल ये तेरह रत्न होते हैं। वराहमिहिराचार्यकी बृहत्संहितामें (अध्याय ८०) इनके लक्षण दिए हुए हैं। भीष्मके स्थानमें उसमें विषमक पाठ है। शब्दार्थ चिन्तामणिके अनुसार यह रत्न हिमालयके उत्तर प्रान्तोंमें पाया जानेवाला कोई सफेद पत्थर है। बाकीके बारेमें बृहत्संहितामें देखना चाहिए। हेम सोनेको कहते हैं। यह नौ प्रकारका बताया गया है—जांबूनद, शातकौम्भ, हाटक, वेणव, शृंगी, शुक्तिज, जातरूप, रसविद्ध और आकर (=खनि) उद्गत। इन तेरह प्रकारके रत्नों और नौ प्रकारके सोनोंसे नाना प्रकारके अलंकार बनते हैं। ये चार श्रेणियोंके होते हैं—(१) आवेध्य (२) निबन्धनीय (३) प्रक्षेप्य और (४) आरोप्य। ताड़ी, कुण्डल, कानके वाले आदि अलंकार अंगमें छेद करके पहने जाते हैं इसलिये आवेध्य कहलाते हैं। अङ्गद (बाहुमूलमें पहना जाने वाला अलंकार—बिजायठ जातीय) श्रोणीसूत्र (करधनी आदि) चूड़ामणि शिखा-दढ़िका आदि अलंकार बांधकर पहने जाते हैं इसलिये इन्हें निबन्धनीय कहा जाता है। ऊर्मिका कटक (पांहुचमें पहना जाने वाला अलंकार) मंजीर आदि अंगमें प्रक्षेप पूर्वक

पहने जाते हैं इसलिये प्रक्षेप्य कहलाते हैं, झूलती हुई माला, हार नक्षत्र-मालिका आदि आदि अलङ्कार आरोपित किए जानेके कारण आरोप्य कहलाते हैं। वस्त्र चार प्रकारके होते हैं, कुछ छालसे, कुछ फलसे, कुछ कीड़ोंसे और कुछ रोओंसे बनते हैं; इन्हें क्रमशः क्षौम, कार्पास (रूईके), कौषेय (रेशमी); राङ्कव (ऊनी) कहते हैं। इन्हें भी निबन्धनीय, प्रक्षेप्य और आरोप्यके वैचित्र्यवश तीन प्रकारसे पहना जाता है। पगड़ी, साड़ी आदि निबन्धनीय हैं, चोली आदि प्रक्षेप्य हैं; उत्तरीय (चादर) आदि आरोप्य हैं। वर्ण और सजावटके भेदसे ये नाना भांतिके होते हैं। सोने और रत्नसे बने हुए अलङ्कारोंकी भांति माल्यके भी आवेध्य-निबन्धनीय-प्रक्षेप्य-आरोप्य ये चार भेद होते हैं प्रत्येकमें ग्रथित और अग्रथित दो प्रकारके माल्य हो सकते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर माल्यके आठ भेद होते हैं—वेष्टित अर्थात् जो समूचे अङ्गको घेर ले (उद्वर्तित)। एक पार्श्वमें विस्तारित माल्यको वितत कहते हैं, अनेक पुष्पोंके समूहसे रचित माल्यको संघात्य कहते हैं, बीच-बीचमें विषम गाँठ वालोंको ग्रन्थिमत कहा जाता है, स्पष्ट उम्मित को अवलम्बित, केवल पुष्पवालेको मुक्तक, अनेक पुष्पमयी लताको मंजरी और पुष्पोंके गुच्छेको स्तवक कहते हैं। कस्तूरी-कुंकुम-चन्दन-कर्पूर-अगुरु-कुलक-दन्तसम-पटवास-सहकार-तैल-ताम्बूल-अलक्तक—अञ्जन - गोरोचना प्रभृति मण्डन द्रव्यवाले अलङ्कार होते हैं। भ्रूघटना, केशरचना, जूड़ा बांधना आदि योजनामय अलङ्कार हैं। प्रकीर्ण अलङ्कार दो प्रकारके होते हैं, जन्य और निवेश्य। श्रमजल, मदिराका मद आदि जन्य हैं, और दूर्वा अशोक पल्लव, यवांकुर, रजत, त्रपु, शंख, तालदल, दन्तपत्रिका, मृणाल वलय, कर-क्रीडनादिकको निवेश्य कहते हैं, इन सबके समवायको वेश कहते हैं। यह वेश

देशकालकी प्रकृति और अवस्थाके सामञ्जस्यको दृष्टिमें रखकर शोभनीय होता है। इनके सजावटसे उचित स्थानपर उचित मात्रामें सन्निवेशसे रमणीयताकी वृद्धि होती है।

यौवन नामक वस्तु ही शोभाका अनुप्राणक है उसीको जीवित कहते हैं। इस अवस्थामें अङ्गोंमें विपुलता और सौष्ठव आते हैं, उनका पारस्परिक विभेद स्पष्ट हो जाता है। वह पहले वयःसन्धिके रूपमें आरम्भ होता है और प्रौढ़के रूपमें मध्यावस्थाको प्राप्त होता है। प्रथम अवस्थामें धम्मिल्ल (जूड़ा) रचना, केश विन्यास, वस्त्र निबन्धन, दन्तपरिकर्म, परिष्कारण, दर्पणेक्षण, पुष्प चयन, माल्य धारण, जलक्रीड़ा, द्यूत, अकारण लज्जा, अनुभाव, श्रृंगार आदि चेष्टाएं वर्तमान होती हैं। दूसरी अवस्थामें श्रृंगारानुभावका तारतम्य ही श्रेष्ठ है। शोभाका निकटसे उपकारक होनेके कारण परिकर उसका व्यंजक है।

ऊपर जिन बाह्य अलङ्कारोंकी चर्चा है उनका नाना भावसे साहित्यमें वर्णन आता है प्राचीन मूर्तियों, चित्रों और काव्योंमें इनका बहुविध प्रयोग पाया जाता है। शास्त्रोंमें उनके नाम भी पाए जाते हैं। (दे० नाट्यशास्त्र २३ अध्याय)

२४—स्त्री ही संसारका श्रेष्ठ रत्न है

भूषणोंका विधान नाना भावसे शास्त्रोंमें दिया हुआ है। अभिलषितार्थ चिन्तामणिमें माल्यभोग और भूषाभोग नामक अध्यायोंमें (प्र० ३ अ० ७-८) नाना भांतिके माल्यों और भूषणोंका विधान किया गया है। परन्तु वराहमिहिराचार्यने स्पष्ट रूपसे बताया है कि वस्तुतः स्त्रियां ही भूषणोंको भूषित करती हैं, भूषण उन्हें भूषित नहीं कर सकते :

रत्नानि विभूषयन्ति योषा भूष्यन्ते वनिता न रत्नकान्त्या
चेतो वनिता हरन्त्यरत्ना नो रत्नानि विनांगनागसंगात्
(बृ० सं० ७४।२)

वराहमिहिरने दृढ़ताके साथ कहा है कि ब्रह्माने स्त्रीके सिवा ऐसा दूसरा बहुमूल्य रत्न संसारमें नहीं बनाया है जो श्रुत, दृष्ट, स्पृष्ट और स्मृत होते ही आह्लाद उत्पन्न कर सके। स्त्रीके कारण ही घरमें अर्थ है, धर्म है, पुत्र-सुख है इसीलिये उन लोगोंको सदैव स्त्रीका सम्मान करना चाहिए जिनके लिये मान ही धन है। जो लोग वैराग्यका भान करके स्त्रीकी निन्दा किया करते हैं, इन गृहलक्ष्मियोंके गुणोंको भूल जाया करते हैं, मेरे मनमें वितर्क यह है कि वे लोग दुर्जन हैं और उनकी बातें मुझे सद्भाव-प्रसूत नहीं जान पड़तीं। सच बताइए स्त्रियों में ऐसे कौन दोष हैं जो पुरुषोंमें नहीं हैं। पुरुषोंकी यह ढिठाई है कि उन्होंने उनकी निन्दा की है। मनुने भी कहा है कि वे पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक गुणवती हैं।... स्त्रीके रूपमें हो या माताके रूपमें स्त्रियां ही पुरुषोंके सुखका कारण हैं। वे लोग कृतघ्न हैं जो उनकी निन्दा करते हैं। दाम्पत्यगत व्रतके अतिक्रमण करनेमें पुरुषको भी दोष होता है और स्त्रीको भी परन्तु स्त्रियां उस व्रतका जिस संयम और निष्ठाके साथ पालन करती हैं, पुरुष वैसा नहीं करते। आश्चर्य है इन असाधु पुरुषोंका आचरण जो मत्यव्रता स्त्रियोंकी निन्दा करते हुए 'उलटे चोर कोतवालै डांटे' की लोकोक्तिको चरितार्थ करते हैं—

अहो धाष्ट्र्यमसाधूनां निन्दतामनघाः स्त्रियः
मुष्णतामिव चौराणां तिष्ठ चौरेति जल्पताम्!
(बृ० सं० ७४।१५)

[illegible] इस महत्वपूर्ण घोषणासे प्राचीन भारतके सद्‌गृहस्थोंका मनोभाव प्रकट होता है। इस देशमें स्त्रियोंका सम्मान सदा बहुत उत्तम कोटिका रहा है क्योंकि जैसा कि शक्ति संगम तन्त्रके ताराखण्डमें शिवजीने कहा है 'नारी ही त्रैलोक्यकी माता है, वही त्रैलोक्यका प्रत्यक्ष विग्रह है। नारी ही त्रिभुवनका आधार है और वही शक्तिकी देह है :

> नारी त्रैलोक्यजननी नारी त्रैलोक्यरूपिणी ।
> नारी त्रिभुवनाधारा नारी देहस्वरूपिणी ।
>
> (१३-४४)

शिवजीने आगे चलकर बताया है कि नारीके समान न सुख है, न गति है न भाग्य है, न राज्य है, न तप है, न तीर्थ है, न योग है, न जप है, न मन्त्र और न धन है। वही इस संसारकी सर्वाधिक पूजनीय देवता है क्योंकि वह पार्वतीका रूप है। उसके समान न कुछ था, न है और न होगा :

> न च नारीसमं सौख्यं न च नारीसमा गतिः ।
> न नारीसदृशं भाग्यं न भूतं न भविष्यति ॥
> न नारीसदृशं राज्यं न नारी सदृशंतपः ।
> न नारीसदृशं तीर्थं न भूतं न भविष्यति ॥
> न नारीसदृशो योगो न नारीसदृशो जपः ।
> न नारीसदृशो योगो न भूतं न भविष्यति ॥
> न नारीसदृशो मन्त्रः न नारीसदृशं तपः ।
> न नारीसदृशं वित्तं न भूतो न भविष्यति ॥
>
> (१३-४६-४८)

इसीलिये भारतवर्षकी सुकुमार साधनाका सर्वोत्तम, अन्तःपुरको केन्द्र करके प्रकाशित हुआ था। वहींसे भारतवर्षका समस्त माधुर्य और समस्त मृदुत्व उद्भासित हुआ है।

२५—उत्सव और प्रेक्षागृह

प्राचीन भारतीय नागरिक नाच, गान और उत्सवोंका आनन्द जमकर लिया करते थे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उन दिनों पेशेवर नर्तकोंका अभिनयगृह किसी निश्चित स्थान पर होता था या नहीं, क्योंकि प्राचीन ग्रन्थोंमें इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। पर इतना निश्चित है कि राज्यकी ओरसे पहाड़ोंकी गुफाओंमें दुमजिले प्रेक्षागृह बनाए जाते थे और निश्चित तिथियों या अवसरों पर उनमें नाच, गान और नाटकाभिनय भी होते थे। छोटानागपुरके रामगढ़की पहाड़ी पर एक ऐसे ही प्रेक्षागृहका भग्नावशेष आविष्कृत हुआ है। फिर खास-खास मन्दिरोंमें भी धार्मिक उत्सवोंके अवसर पर नाच, गानकी व्यवस्था रहा करती थी। शादी, व्याह, पुत्र-जन्म या अन्य आनन्द व्यंजक अवसरों पर नागरिक लोग रङ्गशाला और नाचघर बनवा लेते थे। नाट्यशास्त्रमें स्थायी रङ्गशालाओंकी भी चर्चा है। राजभवनके भीतर तो निश्चित रूपसे रङ्गशालाएं हुआ करती थीं। प्रायः ही संस्कृत नाटिकाओंमें अन्तःपुरके भीतर अन्तःपुरिकाओंके विनोदके लिये नृत्य-गान-अभिनय आदिका उल्लेख पाया जाता है। नाट्यशास्त्रमें ऐसे प्रेक्षागृहोंका माप भी दिया हुआ है। साधारणतः ये तीन प्रकारके होते थे। जो बहुत बड़े होते थे वे देवोंके प्रेक्षागृह कहलाते थे और १०८ हाथ लम्बे होते थे। दूसरे ६४ हाथ लम्बे वर्गाकार होते थे और तीसरे त्रिभुजाकार होते थे, जिनकी तीनों भुजाएं बत्तीस हाथोंकी होती थीं। दूसरे तरहके प्रेक्षागृह

वराहमिहिरकी इस महत्त्वपूर्ण घोषणासे प्राचीन भारतके सद्‌गृहस्थोंका मनोभाव प्रकट होता है। इस देशमें स्त्रियोंका सम्मान बराबर बहुत उत्तम कोटिका रहा है क्योंकि जैसा कि शक्ति संगम तन्त्रके ताराखण्डमें शिवजीने कहा है 'नारी ही त्रैलोक्यकी माता है, वही त्रैलोकका प्रत्यक्ष विग्रह है। नारी ही त्रिभुवनका आधार है और वही शक्तिकी देह है :

नारी त्रैलोक्यजननी नारी त्रैलोक्यरूपिणी।
नारी त्रिभुवनाधारा नारी देहस्वरूपिणी।

(१३-४४)

शिवजीने आगे चलकर बताया है कि नारीके समान न सुख है, न गति है न भाग्य है, न राज्य है, न तप है, न तीर्थ है, न योग है, न जप है, न मन्त्र और न धन है। वही इस संसारकी सर्वाधिक पूजनीय देवता है क्योंकि वह पार्वतीका रूप है। उसके समान न कुछ था, न [illegible] होगा :

न च नारीसमं सौख्यं न
न नारीसदृशं भाग्यं
न नारीसदृशं
न नारीसदृशं
न न [illegible]
न नार[illegible]

निर्माणकी प्रत्येक किया शुभाशुभ फलदायिनी मानी जाती थी। पद-पदपर पूजा, बलि, मन्त्रपाठ और ब्राह्मण भोजनकी आवश्यकता समझी जाती थी। भित्ति कर्म, चूना पोतना, चित्र बनाना, खंभा गाड़ना, भूमि समान करना आदि क्रियाओंमें भावाजोखीका डर रहता था (नाट्य शास्त्र १)। इस प्रकार प्रेक्षाशालाओंका निर्माण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता था।

राजाओंकी विजय-यात्राओंके पड़ाव पर भी अस्थायी रङ्गशालाए बना ली जाती थीं। इन शालाओंके दो हिस्से हुआ करते थे। एक तो जहां अभिनय हुआ करता था वह स्थान और दूसरा दर्शकोंका स्थान, जिसमें भिन्न-भिन्न श्रेणीके लिये उनकी मर्यादाके अनुसार स्थान नियत हुआ करते थे। जहां अभिनय होता था, उसे रङ्गभूमि (या संक्षेप में 'रङ्ग') कहा करते थे। इस रङ्गभूमिके पीछे तिरस्करणी या पर्दा लगा दिया जाता था। पर्देके पीछेके स्थानको नेपथ्य कहा करते थे। यहींसे सजधजकर अभिनेतागण रङ्गभूमिमें उतरते थे। 'नेपथ्य' शब्द (नि+पथ+य) में 'नि' उपसर्गको देखकर कुछ पण्डितोंने अनुमान किया है कि 'नेपथ्य' का धरातल रङ्गभूमिकी अपेक्षा नीचा हुआ करता था, पर वस्तुतः यह उल्टी बात है। असलमें नेपथ्य परसे अभिनेता रङ्गभूमिमें उतरा करते थे। सर्वत्र इस क्रियाके लिये 'रङ्गावतार' (रङ्ग-भूमिमें उतरना) शब्द ही व्यवहृत होता है।

२६—गुफाएं और मन्दिर

भारतीय तक्षण शिल्पके चार प्रधान अंग हैं—गुफा, मन्दिर, स्तम्भ और प्रतिमा। प्रथम दो का सम्बन्ध नाटकीय अभिनयोंके साथ भी पाया गया है। इस देशमें पहाड़ोंको काटकर गुफा निर्माणकी प्रथा बहुत पुरानी है। गुफाएं

राजाके कहे जाते थे। ये ही साधारणतः अधिक प्रचलित थे। ऐसा जान पड़ता है कि राजा लोग और अत्यधिक समृद्धिशाली लोगोंके गृहोंमें तो इस प्रकारकी रङ्गशालाएं स्थायी हुआ करती थीं। प्रतिमा नाटकके आरम्भमें ही नेपथ्य-शालाकी बात आई है। रामके अन्तःपुरमें एक नेपथ्यशाला थी जहां रङ्गभूमिके लिये वल्कलादि सामग्री रखी जाती थी। पर साधारण नागरिक यथा अवसर तीसरे प्रकारकी अस्थायी शालाएं बनवा लेते थे। ऐसी शालाओं-के बनवानेमें बड़ी सावधानी बर्ती जाती थी। सम, स्थिर और कठिन भूमि, काली या गौर वर्णकी मिट्टी शुभ समझी जाती थी। भूमिको पहले हलसे जोतते थे। उसमें की अस्थि, कील, कपाल, तृण-गुल्म आदिको साफ करते थे और तब प्रेक्षाशालाके लिये भूमि मापी जाती थी। मापका कार्य काफी सावधानीका समझा जाता था क्योंकि मापते समय सूत्रका टूट जाना बहुत बड़ा अमंगलका कारण माना जाता था। सूत्र कपास, बेर, वल्कल और मूंजमें से किसी एकका होता था। यह विश्वास किया जाता था कि आधेमें से सूत्र टूट जाय तो स्वामीकी मृत्यु होती है, तिहाईमें से टूट जाय तो राजकोपकी आशंका होती है, चौथाईमें से टूटे तो प्रयोक्ताका नाश होता है, हाथ भर पर से टूट जाय तो कुछ घट जाता है। सो, रज्जुग्रहणका कार्य अत्यन्त साव-धानीसे किया जाता था। यह तो कहना ही बेकार है कि तिथि नक्षत्र करण आदि की शुद्धि पर विशेष रूपसे ध्यान दिया जाता था। इस बातका पूरा ध्यान रखा जाता था कि काषाय वस्त्रधारी, हीनवपु और विकलांग लोग मंडप स्थापनाके समय दिखकर अशुभ न उत्पन्न कर दें! खंभोंके स्थापनमें भी इसी प्रकारकी सावधानी बर्ती जाती थी। खंभा हिल गया, खिसक गया, कांप गया तो नाना प्रकारका उपद्रव होना संभव माना जाता था। वस्तुतः रंगगृहके

निर्माणकी प्रत्येक क्रिया शुभाशुभ फलदायिनी मानी जाती थी। पद-पदपर पूजा, बलि, मन्त्रपाठ और ब्राह्मण भोजनकी आवश्यकता समझी जाती थी। भित्ति कर्म, चूना पोतना, चित्र बनाना, खंभा गाड़ना, भूमि समान करना आदि क्रियाओंमें भावाओंखीका डर रहता था (नाट्य शास्त्र १)। इस प्रकार प्रेक्षाशालाओंका निर्माण अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता था।

राजाओंकी विजय-यात्राओंके पड़ाव पर भी अस्थायी रङ्गशालाएं बना ली जाती थीं। इन शालाओंके दो हिस्से हुआ करते थे। एक तो जहां अभिनय हुआ करता था वह स्थान और दूसरा दर्शकोंका स्थान, जिसमें भिन्न-भिन्न श्रेणीके लिये उनकी मर्यादाके अनुसार स्थान नियत हुआ करते थे। जहां अभिनय होता था, उसे रङ्गभूमि (या संक्षेप में 'रङ्ग') कहा करते थे। इस रङ्गभूमिके पीछे तिरस्करणी या पर्दा लगा दिया जाता था। पर्देके पीछेके स्थानको नेपथ्य कहा करते थे। यहींसे सजधजकर अभिनेतागण रङ्गभूमिमें उतरते थे। 'नेपथ्य' शब्द (नि+पथ+य) में 'नि' उपसर्गको देखकर कुछ पण्डितोंने अनुमान किया है कि 'नेपथ्य' का धरातल रङ्गभूमिकी अपेक्षा नीचा हुआ करता था, पर वस्तुतः यह उल्टी बात है। असलमें नेपथ्य परसे अभिनेता रङ्गभूमिमें उतरा करते थे। सर्वत्र इस क्रियाके लिये 'रङ्गावतार' (रङ्गभूमिमें उतरना) शब्द ही व्यवहृत होता है।

२६—गुफाएं और मन्दिर

भारतीय तक्षण शिल्पके चार प्रधान अंग हैं—गुफा, मन्दिर, स्तम्भ और प्रतिमा। प्रथम दो का सम्बन्ध नाटकीय अभिनयोंके साथ भी पाया गया है। इस देशमें पहाड़ोंको काटकर गुफा निर्माणकी प्रथा बहुत पुरानी है। गुफाएं

दो जातिकी हैं : चैत्य और विहार। चैत्यके भीतर एक स्तूप होता है और जनसमाजके सम्मिलित होनेके लिये लम्बा चौड़ा हाल बनाया जाता है। इस प्रकारकी गुफाओंमें कार्लीकी गुफा श्रेष्ठ है। विहार बौद्ध भिक्षुओंके मठको कहते हैं। दक्षिण भारतमें अजन्ता, एलोरा, कार्ली, भाजा, वेलसा आदिके विहार संसारके शिल्प प्रेमियोंकी प्रचुर प्रशंसा प्राप्त कर सके हैं। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि एक गुफामें एक प्रेक्षागृह या रंगशालाका भग्नावशेष पाया जा सका है। मन्दिरोंसे सम्बद्ध रंगशालाएं भी पाई गई हैं। जिस देवताका मन्दिर हुआ करता था उसकी लीलाओंका अभिनय हुआ करता था और भक्त लोग उन्हें देखकर भगवच्चिन्तनमें समय विताया करते थे। उत्तर भारतमें ब्राह्मण और जैन मन्दिर ही अधिक हैं। ब्राह्मण मन्दिरमें 'गर्भगृह' में मूर्ति स्थापित होती हैं और आगे मंडप बनाया जाता है। जैन मन्दिरोंमें कभी कभी दो मंडप होते हैं और एक वेदी भी। इन मन्दिरोंके 'गर्भगृह' पर शिखर होता है। शिखरके ऊपर सबसे ऊंचे एक प्रकारका वड़ा चक्र होता है जिसे 'आमलक' कहते हैं। इसी आमलकके ऊपर कलश होता है और उसके ऊपर ध्वज दण्ड। द्रविड़ शैलीके मन्दिरोंमें गर्भगृहके ऊपर कई मंजिलोंका चौकोर मण्डप होता है जिसे विमान कहा जाता है। यह ज्यों ज्यों ऊंचा होता जाता है त्यों त्यों उसका फैलाव कम होता जाता है। जहां उत्तर भारतमें शिखर होता है वहीं दक्षिण भारतीय शैलीमें विमान होता है। गर्भगृहके आगे बड़े-बड़े स्तम्भों वाला विस्तृत स्थान (मण्डप) होता है और मन्दिरके प्राकारके द्वारोंपर अनेक देवी देवताओंकी मूर्तिवाला ऊंचा गोपुर होता है। दक्षिणके चिदांवरम् आदि मन्दिरोंपर नाट्य शास्त्रके बताए हुए विविध ... र चित्रित हुए हैं। कोणार्क भुवनेश्वरके मन्दिरोंमें भी नाना प्रकारके

शास्त्रीय आसन उत्कीर्ण हैं। इन मन्दिरोंपर उत्कीर्ण इन चित्रोंसे बहुतसी उन अभिनय मंगियोंके समझनेमें सहायता मिलती है। इसी प्रकार गुफाओंमें अंकित चित्रोंने नाना दृष्टिसे भारतीय समाजको समझानेमें सहायता पहुंचाई है। उनकी कला तो असाधारण है ही। एक प्रसिद्ध अंग्रेज शिल्प शास्त्रीने आश्चर्यके साथ लक्ष्य किया था कि गुफाओंको काटनेमें कहीं भी एक भी छेनी व्यर्थ नहीं चलाई गई है। भारतीय वास्तुकलाकी दृष्टिसे इन गुफाओं और मन्दिरोंकी प्रशंसा संसारके सभी शिल्प-विशारदोंने की है। अद्भुत धैर्य, विशाल मनोबल और आश्चर्यजनक हस्तकौशलका ऐसा सामंजस्य संसारमें बहुत कम मिलता है। आलोचकोंने इस सफलताका प्रधान कारण कलाकारोंकी भक्तिको ही बताया है।

२७—दर्शक

इन प्रेक्षागृहोंमें—चाहे वे स्थायी हों या अस्थायी—अभिनय देखनेके लिये जानेवाले दर्शकोंमें छोटे बड़े शिक्षित अशिक्षित सभी हुआ करते थे, पर ऐसा जान पड़ता है कि अधिकांश दर्शक रस शास्त्रके नियमोंके ज्ञाता हुआ करते थे। कालिदास, हर्ष आदिके नाटकोंमें अभिरूप भूयिष्ठा और गुणग्राहिणी परिषद्का उल्लेख है। भारतीय जीवनकी यह विशेषता रही है कि ऊंचीसे ऊंची चिन्ता जनसाधारणमें घुली पाई जाती है। यद्यपि शास्त्रीय विचार और तर्क-शैली सीमित क्षेत्रमें ही परिचित होती थी; किन्तु सिद्धान्त सर्वसाधारणमें ज्ञात होते थे। नृत्य और अभिनय सम्बन्धी मूल सिद्धान्त भी उन दिनों सर्व साधारणमें परिचित रहे होंगे। संस्कृत नाटकों और शास्त्रीय संगीत और अभिनयके द्रष्टाको कैसा होना चाहिए, इस विषयमें नाट्य शास्त्र ने स्पष्ट रूपमें कहा है (२७-५१ और आगे) कि उसके सभी इन्द्रिय

कुशल होने चाहिए, ऊहापोहमें उसे पटु होना चाहिए (अर्थात् जिसे आज कल 'क्रिटिकल आटिट्यूड' कहते हैं, ऐसा होना चाहिए), दोषका जानकार और रागी होना चाहिए। जो व्यक्ति शोकमें शोकान्वित न हो सके और आनन्दजनक दृश्य देखकर आनन्दित न हो सके अर्थात् जो संवेदनशील न हो, उसे नाट्यशास्त्र प्रेक्षक या दर्शकका पद नहीं देना चाहता (२७-५२)। यह जरूर है कि सभीकी रुचि एक सी नहीं हो सकती। वयस, अवस्था और शिक्षाके भेदसे नाना भाँतिकी रुचि और अवस्थाके अनुसार भिन्न विषयके नाटकों और अभिनयोंका प्रेक्षकत्व निर्दिष्ट किया है। जवान आदमी शृंगार रसकी बातें देखना चाहता है, सहृदय काल-नियमों (समय) के अनुकूल अभिनयको पसन्द करता है, अर्थ परायण लोग अर्थ चाहते हैं, वैरागी लोग विरागोत्तेजक दृश्य देखना चाहते हैं, शूर लोग वीररस, रौद्र आदि रस पसन्द करते हैं, वृद्ध लोग धर्माख्यान और पुराणके अभिनय देखनेमें रस पाते हैं (२७-५७-५८) फिर एक ही तमाशेके सभी तमाशबीन कैसे हो सकते हैं। फिर भी जान पड़ता है कि व्यवहारमें इतना कठोर नियम नहीं पालन किया जाता होगा और उत्सवादिके अवसर पर जो कोई अभिनयको देखना पसन्द करता होगा, वही जाया करता होगा। परन्तु कालिदास आदि जब परिषद्की निपुणता और गुणग्राहकताकी बात करते हैं, तो निश्चय ही कुछ चुने हुए सहृदयोंकी बात करते हैं।

साधारणतः ये नाच, गान और अभिनय दिनमें या सायंकाल होते होंगे। प्राचीन ग्रन्थोंमें यह नहीं लिखा है कि अभिनय कब हुआ करते थे। कामसूत्र-में एक स्थान पर (पृ० ४७-४८) कहा गया है कि दोपहरके बाद नागरिक प्रसाधन करके गोष्ठी विहारको जाया करते थे। फिर सायङ्काल (प्रदोषे)

को सगीतका अनुष्ठान होता था। वैसे नाट्यशास्त्रीय विवेचनाओंमें अभिनयके समय प्रदोष आदिका उल्लेख कम ही मिलता है। जो हो, कामसूत्रकी गवाही पर हम मान तो सकते हैं कि सायङ्काल ही यह अनुष्ठान हुआ करते थे। नागरिक गण दैनिक कृत्योंसे फुरसत पाकर अच्छे वस्त्रालङ्कार धारण करके इन अनुष्ठानोंमें जाते थे। मृच्छकटिकमें रेभिल नामक सुकठ वणिक् गायकने सायं सन्ध्याके बाद ही अपने घरकी सङ्गीत मजलिसमें गान किया था।

२८—पारिवारिक उत्सव

साधारणतः विवाहके अवसर पर या राजकीय किसी उत्सवके अवसर पर ऐसे आयोजनोंका भूरिशः उल्लेख पाया जाता है। जब नगरमें वर-वधू प्रथम बार रथस्थ होकर निकलते थे, तो नगरमें खरभर मच जाती थी। पुर सुन्दरियां सब कुछ भूलकर राजपथके दोनों ओर गवाक्षोंमें आंखें बिछा देती थीं। केश बांधती हुई बहू हाथमें कवरीबन्धके लिये सम्हाली हुई पुष्पस्रक् (माला) लिये ही दौड़ पड़ती थी, महावर देनेमें दत्तचिता कुलरमणी एक पैरके महावरसे घरको लाल बनाती हुई खिड़की पर दौड़ जाती थी, काजल बाईं आंखमें पहले लगानेका नियम भूलकर कोई सुन्दरी दाहिनी आंखमें काजल देकर जल्दी जल्दीमें हाथमें अञ्जन-शलाका लिये ही भाग पड़ती थी, रसनामें मणि गूंथती हुई विलासिनी आधे गुंथे सूत्रको अंगूठेमें लिये हुए ही दौड़ पड़ती थी (रघुवंश, ७-६-१०, और कुमारसम्भव ७-५७-१०) और इस प्रकार नगर सौधोंके गवाक्ष सुन्दरियोंकी वदन-दीप्तिसे दमक उठते थे। जब कुमार चन्द्रापीड़ समस्त विद्याओंका अध्ययन समाप्त करके विद्या-गृहसे निर्गत हुए थे और नगरमें प्रविष्ट हुए थे, तो कुछ इसी प्रकारकी खरभर मच गई थी।

संभ्रान्त परिवारोंमें जिनका आपसमें सम्बन्ध होता था, उनके घर उत्सव होनेपर एक घरके लोग बड़े ठाट-बाटसे दूसरे घर जाया करते थे। राजा, मन्त्री, श्रेष्ठी आदि समृद्ध नागरिकोंमें यह आना-जाना विशेष रूपसे दर्शनीय हुआ करता था। मन्त्री शुकनासके घर पुत्र जन्म होनेपर राजा तारापीड़ उसका उत्सव मनानेके लिए गए थे। उनके साथ अन्तःपुरकी देवियां भी थीं। बाणभट्टकी शक्तिशाली लेखनीने इसका जो विवरण दिया है, उससे उस युगके ऐसे जुलूसोंका बहुत मनोरंजक परिचय मिलता है। राजा तारपीड़ जब शुकनासके घर जाने लगे, तो उनके पीछे अन्तःपुरकी परिचारिका रमणियां भी थीं। उनके चरण विघट्टन (पदक्षेप) जनित नूपुरोंके क्वणनसे दिगन्त शब्दायमान हो उठा था, वेगपूर्वक भुज-लताओंके उत्तोलनके कारण मणि-जटित चूड़ियां चंचल हो उठी थीं, मानो आकाश गंगामें की कमलिनी वायु विलुलित होकर नीचे चली आई हो ; भीड़के संघर्षसे उनके कानोंके पल्लव खिसक रहे थे, वे एक दूसरेसे टकरा जाती थीं और इस प्रकार एकका केयूर दूसरीकी चादरमें लगकर उसे खरोंच डालता था, पसीने से घुले हुए अंगराग उनके चीन-वसनोंको रंग रहे थे, भीड़के कारण शरीरका तिलक थोड़ा ही बच रहा था, साथ-साथ चलने वाली विलासवती वारवनिताओंकी हंसीसे वे प्रस्फुटित कुमुद वनके समान सुशोभित हो रही थीं ; चञ्चल हार लताएं जोर-जोरसे हिलती हुई उनके वक्षोभागसे टकरा रही थीं, खुली केशराशि सिन्दूर बिन्दुपर आकर पड़ रही थी, अबीरकी निरन्तर झड़ी होते रहनेके कारण उनके केश पिंगल वर्णके हो उठे थे, उन दिनोंके संभ्रान्त परिवारोंके अन्तःपुरमें सदा रहने वाले गूंगे, कुबड़े, बौने और मूर्ख लोग उद्धतनृत्यसे विह्वल होकर आगे चले जा रहे थे, कभी-कभी किसी वृद्ध कंचुकीके गलेमें

किसी रमणीय उत्तरीय वस्त्र अटक जाता था और खींचतानमें पड़ा हुआ वह बिचारा खासे मजाकका पात्र बन जाता था, साथमें वीणा, वंशी, मृदंग और कांस्यताल बजता चलता था, अस्पष्ट किन्तु मधुर गान सुनाई दे रहा था। राजाके पीछे-पीछे उनके परिवारकी संभ्रान्त महिलाएं भी जा रही थीं, उनका मणिमय कुण्डल आन्दोलित होकर कपोल तलपर निरन्तर आघात कर रहा था, कानके उत्पल-पत्र हिल रहे थे, शेखर-माला भूमिपर गिरती जा रही थी, वक्षःस्थल-विराजित पुष्पमाला निरन्तर हिल रही थी, इनके साथ भेरी-मृदंग-मर्दल-पटह आदि बाजे बज रहे थे, और इनके पीछे-पीछे काहल और शंखके नाद हो रहे थे, और इन शब्दोंके साथ राज परिवारकी देवियोंके नूपुर चरणोंके आघातसे इतना जबर्दस्त शब्द हो रहा था कि धरतीके फट जानेका अन्देशा होता था। इनके पीछे राजाके चारणगण नाचते चले जा रहे थे, नाना प्रकारके मुखवाद्यसे कोलाहल करते जा रहे थे, कुछ लोग राजाकी स्तुति कर रहे थे, कुछ विरद पढ़ रहे थे और कुछ यों ही उछलते-कूदते चले जा रहे थे।

जो उत्सव पारिवारिक नहीं होते थे, उनका ठाट-बाट कुछ और तरहका होता था। काव्य ग्रन्थोंमें इनका भी उल्लेख पाया जाता है। साधारणतः राजाकी सवारी, विजय-यात्रा, विजयके बादका प्रवेश, बारात आदिके जुलूसोंमें हाथियों और घोड़ोंकी बहुतायत हुआ करती थी। स्थान-स्थान पर जुलूस रुक जाता था और घुड़सवार नौजवान घोड़ोंको नचानेकी कलाका परिचय देते थे। नगरकी देवियां गवाक्षोंसे धानकी खीलों और पुष्पवर्षासे राजा, राजकुमार या वरकी अभ्यर्थना करती थीं। जुलूसके पीछे बड़ी दूर तक साधारण नागरिक पीछे चला करते थे। जान पड़ता है कि प्राचीन कालके ये जुलूस

जन-साधारणके लिये एक विशेष आनन्ददायक उत्सव थे। राजा जब दीर्घ प्रवासके बाद अपनी राजधानीको लौटते थे, उत्सुक जनता प्रथम चन्द्रकी भांति अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक उनकी प्रतीक्षा करती रहती थी और राजाके नगर द्वारमें पधारने पर तुमुल जयघोषसे उनका स्वागत करती थी। महाकवि कालिदासने रघुवंशमें राजा दिलीपके वन-प्रवासके अवसर पर भी यह दिखाया है कि किस प्रकार वनके वृक्ष और लताएं नागरिकोंकी भांति उनकी अभ्यर्थना कर रही थीं। बाल लताएं पुष्प वर्षा करके पौर-कन्याओं द्वारा अनुष्ठित खीलोंकी वर्षाकी कमी पूरी कर रही थीं, वृक्षोंके सिरपर बैठकर चहकती हुई चिड़ियां मधुर शब्द करके आलोक शब्द या रोशनचौकीके अभावको भलीभांति दूर कर रही थीं और इस प्रकार वनमें भी राजा अपने राजकीय सम्मानको पा रहा था। जुलूस जब गन्तव्य स्थान पर पहुंच जाता था तो वहांके आनुष्ठानिक कृत्यके सम्पादनके बाद नाच, गान, अभिनय आदि द्वारा मनोरञ्जनकी व्यवस्था हुआ करती थी। दर्शकोंमें स्त्री-पुरुष, वृद्ध-बालक, ब्राह्मण शूद्र सभी हुआ करते थे। सभीके लिये अलग-अलग बैठनेकी जगहें हुआ करती थीं।

२९—विवाहके अवसरके विनोद

हर्षचरितमें विवाहके अवसरपर होने वाले आमोद उल्लासोंका ... मिलता है। अन्तःपुरकी महिलाएं भी ऐसे अवसरोंपर ... लेती थीं। उनके सुन्दर अंगहारोंसे महोत्सव मंगलकल- ... सा हो जाता था, कुट्टिम-भूमि पादालक्तोंसे लाल हो जाती ... [illegible]ओंकी किरणोंसे सारा दिन कृष्णसार मृगोंसे परिपूर्णकी भांति ... [illegible]लताओंके विक्षेपको देखकर ऐसा लगता था मानो

भुवनमण्डल मृणालवलयोंसे परिवेष्टित हो जायगा। शिरीष-कुसुमके स्तव-कोंसे ऐसे अवसरोंपर अन्तःपुरकी धूप शुक (तोते) के पक्षके रंगमें रंगी हुई-सी जान पड़ने लगती थी, शिथिल धम्मिल्ल (जूड़े) से खिसक कर गिरे हुए तमाल-पत्रोंसे अंगणभूमि कज्जलायमान हो उठती थी और आभ-रणोंके रणत्कारसे ऐसी मुखर ध्वनि दिशाओंमें परिव्याप्त हो जाती थी कि श्रोताको भ्रम होने लगता था कि कहीं दिशाओंके ही चरणोंमें नूपुर तो नहीं बांध दिए गए हैं। समृद्ध परिवारोंके बाहरी बैठकखानेसे लेकर अन्तः-पुर तक नाच-गानका जाल बिछ जाता था। स्थान-स्थानपर पण्य-विलासिनियों (वेश्याओं) के नृत्यका आयोजन होता था। उनके साथ मन्द-मन्द भावसे आस्फाल्यमान आलिंग्यक नामक वाद्य बजते रहते थे, मधुर शिंजनकारी मञ्जुल वेणु-निनाद मुखरित होता रहता था, झनझनाती हुई झल्लरीकी ध्वनिके साथ कलकांस्य और कोशी (कांसेके दण्ड और जोड़ी) का क्वणन अपूर्व ध्वनि माधुरीकी सृष्टि करते थे, साथ साथ दिए जाने वाले हस्तालतालसे दिङ्मण्डल कल्लोलित होता रहता था, निरन्तर ताड़न पाते हुए तन्त्रीपटहकी गुंजारसे और मृदु-मन्द झंकारके साथ झंकृत अलाबु-वीणाकी मनोहर ध्वनिसे वे नृत्य अत्यन्त आकर्षक हो जाते थे। युवतियोंके कानमें ऋतु विशेषके नवीन पुष्प झूलते होते थे,—कभी वहां कर्णिकार, कभी अशोक, कभी शिरीष, कभी नीलोत्पल और कभी तमालपत्रकी भी चर्चा आती है—कुंकुम-गौर-कान्तिसे वे वलयित होती थीं—मानो काश्मीर किशोरियां हों। नृत्यके नाना करणोंमें जब वे अपनी कोमल भुजलताओंको आकाशमें उत्क्षिप्त करती थीं तो ऐसा लगता था कि उनके कंकण सूर्यमण्डलको बन्दी बना लेंगे; उनकी कनक मेखलाकी किंकिणियोंसे उलझी हुई कुरण्टकमाला उनके मध्य देशको

घिरती हुई ऐसी शोभित होती थी मानों रागाग्नि ही प्रदीप्त होकर उन्हें वलयित किए है। उनके मुखमण्डलसे सिन्दूर और अबीरकी छटा विच्छुरित हो जाती थी और उस लाल कान्तिसे अरुणायित कुण्डल पत्र इस प्रकार सुशोभित हुआ करते थे मानों नन्दन द्रुमकी सुकुमार लताओंके विलुलित किसलय हों। उनके नीले वासन्ती, चित्रक और कौसुम्भ वस्त्रोंके उत्तरीय जब नृत्यवेगके घूर्णनसे तरंगायित हो उठते थे तो मालूम पड़ता था कि विक्षुब्ध शृंगार-सागरकी चटुल वीचियां तरंगित हो उठी हैं। वे मदको भी मदमत्त बना देती थीं, रागको भी रंग देती थीं आनन्दको भी आनन्दित कर देती थीं, नृत्यको भी नचा देती थीं और उत्सवको भी उत्सुक कर देती थीं (हर्षचरित, ४र्थ उच्छ्वास)।

विवाहादिके अवसरपर अन्तःपुरोंमें जिस मनोहर नृत्यगानका आयोजन होता था वह संयत, मोहक और शिष्ट होता था : उस समय पद्म किंजल्कोंकी धूलिसे दिशाएं पिंजरित हो उठती थीं, कुरंटक मालाओंसे सजी हुई भित्तियां जगमग करती रहती थीं, मालती मालाओंसे वलयित सुन्दरियां मृणाल वलयमें बन्दी चन्द्रमण्डलका स्मरण दिला देती थीं, वीणा वेणु और मुरजके झंकारसे अन्तःपुर कोलाहलमय हो उठता था। संगीत इस प्रकारके उत्सवोंका प्रधान उपादान होता था। बाणभट्टकी गवाहीपर हम कह सकते हैं कि विवाहकी प्रत्येक क्रियाके समय पुरोहितकी मन्त्रगिराके समान ही कोकिलकंठियोंके गान आवश्यक माना जाता था। ऐसे अवसरोंके गान महज मनोविनोद या आमोद उल्लासके साधन नहीं होते थे बल्कि विश्वास किया जाता था कि देवताओंको प्रसन्न करेंगे, अमंगलको दूर करेंगे और वर-वधूको अशेष सौभाग्यसे अलंकृत करेंगे।

३०—समाज

यहाँ यह याद रखना उचित है कि कामसूत्रसे हमें कई प्रकारकी नाच, गान और स्वाध्याय सम्बन्धी सभाओंका पता मिलता है। एक तरहकी सभा हुआ करती थी, जिसे समाज कहा करते थे। यह सभा सरस्वतीके मन्दिरमें नियत तिथिको हर पखवारे हुआ करती थी। इसमें जो लोग आते थे, वे निश्चय ही अत्यन्त सुसंस्कृत नागरिक हुआ करते थे। इस सभामें जो नाचने-गाने वाले, नागरिकका मनोविनोद किया करते थे उनमें अधिकांश नियुक्त हुआ करते थे। किन्तु समय-समयपर अन्य स्थानोंसे आए हुए कुशीलव या नाच-गानके उस्ताद भी इसमें अपनी कलाका प्रदर्शन किया करते थे। दूसरे दिन इन्हें पुरस्कार दिया जाता था। जब कभी कोई बड़ा उत्सव हुआ करता था, तो इन समाजोंमें कई स्वतन्त्र और आगन्तुक नर्तक और गायक सम्मिलित भावसे अपनी कलाका प्रदर्शन करते थे। इनकी खातिरदारी करना समूचे गण अर्थात् नागरिक समाजका धर्म हुआ करता था। केवल सरस्वतीके मन्दिरमें ही ऐसे उत्सव हुआ करते हों सो बात नहीं है, अन्यान्य देवताओंके मन्दिरमें भी यथा-नियम हुआ करते थे। (कामसूत्र, पृ०५०-५१)

इसी प्रकार नागरिकोंके मनोविनोदके लिये एक और तरहकी भी सभा बैठा करती थी, जिसे गोष्ठी कहा करते थे। ये गोष्ठियाँ नागरिकके घरपर या किसी गणिकाके घर भी हुआ करती थीं। इनमें निश्चय ही चुने हुए लोग ही सम्मिलित होते थे। गणिकाएँ, जो उन दिनों अपनी विद्या, कला और रसिकताके कारण सम्मानकी दृष्टिसे देखी जाती थीं, नागरिकोंके घरपर होनेवाली गोष्ठियोंमें निमन्त्रित होकर आती थीं और सिर्फ नृत्य गीतसे ही नहीं, बहुविध काव्य समस्याएँ मानसी काव्य-क्रिया, पुस्तक-वाचन, दुर्वाचक

मण्डली भी बैठती थी। बाईं ओर अन्तःपुरिकाओंकी मंडली बैठा करती थी। सभापतिके पीछे रूप यौवन-संभारशालिनी चारु-चामर धारिणी स्त्रियां धीरे-धीरे चवर डुलाया करती थीं, जो अपने कङ्कण झंकारसे दर्शकोंका चित्त मोहती रहती थीं। सामनेकी बाईं ओर कथक, वन्दी और कलावंत आदि रहा करते थे। सभाकी शान्ति-रक्षाके लिये दक्ष वेत्रधर भी तैयार रहते थे।

राजशेखरने काव्यमीमांसामें एक और प्रकारकी सभाका विधान किया है, जो मनोरञ्जक है। इसके अनुसार राजा काव्य-साहित्यादि की चर्चाके लिये जो सभामंडप होगा, उसमें सोलह खंभे, चार द्वार और आठ अटारियां होंगी। राजाका क्रीड़ा-गृह इसीसे सटा हुआ होगा। इसके बीचमें चार खम्भोंको छोड़कर हाथभर ऊंचा एक चबूतरा होगा और उसके ऊपर एक मणिजटित वेदिका। इसीपर राजाका आसन होगा। इसके उत्तरकी ओर संस्कृत भाषाके कवि बैठेंगे। यदि एक ही आदमी कई भाषाओंमें कवित्व करता हो, तो जिस भाषामें अधिक प्रवीण हो वह उसी भाषाका कवि माना जायगा। जो कई भाषाओंमें बराबर प्रवीण हो, वह जहां चाहे उठकर बैठ सकता है। संस्कृत कवियोंके पीछे वैदिक, दार्शनिक, पौराणिक स्मृति शास्त्री, वैद्य, ज्योतिषी आदिका स्थान होगा। पूर्वकी ओर प्राकृत भाषाके कवि और उनके पीछे नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन, कुशीलव, तालावचर आदि रहेंगे। पश्चिमकी ओर अपभ्रंश भाषाके कवि और उनके पीछे चित्रकार, लेपकार, मणिकार, जौहरी, सुनार, बढ़ई, लोहार आदिका स्थान होगा। दक्षिणकी ओर पैशाची भाषाके कवि होंगे और उनके पीछे वेश्या, वेश्या-लम्पट, रस्सोंपर नाचने वाले नट, जादूगर, जम्भक, पहलवान, सिपाही आदिका स्थान

योग, देश-भाषा-विज्ञान, छन्द, नाटक आख्यान आख्यायिका सम्बन्ध
चनाओं और रसालापोंसे भी नागरिकोंका मनोविनोद किया करत
भासके नाटकों, तथा ललितविस्तर आदि बौद्ध काव्योंसे पता चलता है
गोष्ठियां उन दिनों बहुत प्रचलित थीं और रईसीका आवश्यक अंग
जाती थीं। यह जरूर है कि कभी कभी लोगोंमें इस प्रकारकी गो
विषयमें निन्दा भी होती थी। वात्स्यायनने भले आदमियोंको निन्दित
योंमें जानेका निषेध किया है (पृ० ५८-५९)। इन गोष्ठियोंके स
एक और सभा नागरिकोंकी बैठा करती थी, जिसे वात्स्यायनने आपान
है। इसमें मद्पानकी व्यवस्था होती थी पर हमारे विषयसे उसक
सम्बन्ध नहीं है। दो और सभाएं—उद्यानयात्रा और समस्याक्रीड़ा
सूत्रमें बताई गई हैं, जिनकी चर्चा यहां नहीं करेंगे।

३१—सभा

संगीत रत्नाकर (१३५१-१३६०) में रत्नस्तम्भ विभूषित पु
शोभित नाना वितान-सम्पन्न अत्यन्त समृद्धशाली रंगशालाका उल्ले
इसके बीचमें सिंहासन पर सभापति बैठा करते थे। इस सभापतिमें
प्रकारकी कला-मर्मज्ञता और विवेकशीलताका होना आवश्यक माना गय
सभापतिकी बाईं ओर अन्तःपुरकी देवियोंके लिये और दाहिनी ओर
अमात्यादिके लिये स्थान नियत हुआ करते थे। इन प्रधानोंके पीछे
ध्यक्ष और अन्यान्य करणाधिप या अफसर रहा करते और इनके निक
लोक-वेदके विचक्षण विद्वान् कवि और रसिक जन बैठा करते थे। ब
—ोतिषी और वैद्योंके आसन विद्वानोंमें हुआ करता था। इसी ओर म

मण्डली भी बैठती थी। बाईं ओर अन्तःपुरिकाओंकी मंडली बैठा करती थी। सभापतिके पीछे रूप यौवन-संभारशालिनी चारु-चामर धारिणी स्त्रियां धीरे-धीरे चवर डुलाया करती थीं, जो अपने कंकण झंकारसे दर्शकोंका चित्त मोहती रहती थीं। सामनेकी बाईं ओर कथक, वन्दी और कलावंत आदि रहा करते थे। सभाको शान्ति-रक्षाके लिये दक्ष वेत्रधर भी तैयार रहते थे।

राजशेखरने काव्यमीमांसामें एक और प्रकारकी सभाका विधान किया है, जो मनोरंजक है। इसके अनुसार राजा काव्य-साहित्यादि की चर्चाके लिये जो सभामंडप होगा, उसमें सोलह खम्भे, चार द्वार और आठ अटारियां होंगी। राजाका क्रीड़ा-गृह इसीसे सटा हुआ होगा। इसके बीचमें चार खम्भोंको छोड़कर हाथभर ऊंचा एक चबूतरा होगा और उसके ऊपर एक मणिजटित वेदिका। इसीपर राजाका आसन होगा। इसके उत्तरकी ओर संस्कृत भाषाके कवि बैठेंगे। यदि एक ही आदमी कई भाषाओंमें कवित्व करता हो, तो जिस भाषामें अधिक प्रवीण हो वह उसी भाषाका कवि माना जायगा। जो कई भाषाओंमें बराबर प्रवीण हो, वह जहां चाहे उठकर बैठ सकता है। संस्कृत कवियोंके पीछे वैदिक, दार्शनिक, पौराणिक स्मृति शास्त्री, वैद्य, ज्योतिषी आदिका स्थान होगा। पूर्वकी ओर प्राकृत भाषाके कवि और उनके पीछे नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन, कुशीलव, तालावचर आदि रहेंगे। पश्चिमकी ओर अपभ्रंश भाषाके कवि और उनके पीछे चित्रकार, लेपकार, मणिकार, जौहरी, सुनार, बढ़ई, लोहार आदिका स्थान होगा। दक्षिणकी ओर पैशाची भाषाके कवि होंगे और उनके पीछे वेश्या, वेश्या-लम्पट, रस्सीपर नाचने वाले नट, जादूगर, जम्भक, पहलवान, सिपाही आदिका स्थान

योग, देश-भाषा-विज्ञान, छन्द, नाटक आख्यान आख्यायिका सम्बन्धी आलोचनाओं और रसालापोंसे भी नागरिकोंका मनोविनोद किया करती थीं। भासके नाटकों, तथा ललितविस्तर आदि बौद्ध काव्योंसे पता चलता है कि ये गोष्ठियां उन दिनों बहुत प्रचलित थीं और रईसीका आवश्यक अंग मानी जाती थीं। यह जरूर है कि कभी कभी लोगोंमें इस प्रकारकी गोष्ठियोंके विषयमें निन्दा भी होती थी। वात्स्यायनने भले आदमियोंको निन्दित गोष्ठियोंमें जानेका निषेध किया है (पृ० ५८-५९)। इन गोष्ठियोंके समान ही एक और सभा नागरिकोंकी बैठा करती थी, जिसे वात्स्यायनने आपानक कहा है। इसमें मद्यपानकी व्यवस्था होती थी पर हमारे विषयसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। दो और सभाएं—उद्यानयात्रा और समस्याक्रीड़ा कामसूत्रमें बताई गई हैं, जिनकी चर्चा यहां नहीं करेंगे।

३१—सभा

संगीत रत्नाकर (१३५१-१३६०) में रत्नस्तम्भ विभूषित पुष्प प्रकर शोभित नाना वितान-सम्पन्न अत्यन्त समृद्धशाली रंगशालाका उल्लेख है। इसके बीचमें सिंहासन पर सभापति बैठा करते थे। इस सभापतिमें सभी प्रकारकी कला-मर्मज्ञता और विवेकशीलताका होना आवश्यक माना गया है। सभापतिकी बाईं ओर अन्तःपुरकी देवियोंके लिये और दाहिनी ओर प्रधान अमात्यादिके लिये स्थान नियत हुआ करते थे। इन प्रधानोंके पीछे कोशाध्यक्ष और अन्यान्य करणाधिप या अफसर रहा करते और इनके निकट ही लोक-वेदके विचक्षण विद्वान् कवि और रसिक जन बैठा करते थे। बड़े-बड़े ज्योतिषी और वैद्योंके आसन विद्वानोंमें हुआ करता था। इसी ओर मन्त्रि-

मण्डली भी बैठती थी। बाईं ओर अन्तःपुरिकाओंकी मंडली बैठा करती थी। सभापतिके पीछे रूप यौवन-संभारशालिनी चारु-चामर धारिणी स्त्रियां धीरे-धीरे चवर डुलाया करती थीं, जो अपने कंकण झंकारसे दर्शकोंका चित्त मोहती रहती थीं। सामनेकी बाईं ओर कथक, वन्दी और कलावत आदि रहा करते थे। सभाको शान्ति-रक्षाके लिये दक्ष वेत्रधर भी तैयार रहते थे।

राजशेखरने काव्यमीमांसामें एक और प्रकारकी सभाका विधान किया है, जो मनोरंजक है। इसके अनुसार राजा काव्य-साहित्यादि की चर्चाके लिये जो सभामडप होगा, उसमें सोलह खमे, चार द्वार और आठ अटारियां होंगी। राजाका क्रीड़ा-गृह इसीसे सटा हुआ होगा। इसके बीचमें चार खम्भोंको छोड़कर हाथभर ऊंचा एक चबूतरा होगा और उसके ऊपर एक मणिजटित वेदिका। इसीपर राजाका आसन होगा। इसके उत्तरकी ओर सस्कृत भाषाके कवि बैठेंगे। यदि एक ही आदमी कई भाषाओंमें कवित्व करता हो, तो जिस भाषामें अधिक प्रवीण हो वह उसी भाषाका कवि माना जायगा। जो कई भाषाओंमें बराबर प्रवीण हो, वह जहां चाहे उठकर बैठ सकता है। सस्कृत कवियोंके पीछे वैदिक, दार्शनिक, पौराणिक स्मृति शास्त्री, वैद्य, ज्योतिषी आदिका स्थान होगा। पूर्वकी ओर प्राकृत भाषाके कवि और उनके पीछे नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन, कुशीलव, तालावचर आदि रहेंगे। पश्चिमकी ओर अपभ्रंश भाषाके कवि और उनके पीछे चित्रकार, लेपकार, मणिकार, जौहरी, सुनार. बढ़ई, लोहार आदिका स्थान होगा। दक्षिणकी ओर पैशाची भाषाके कवि होंगे और उनके पीछे वेश्या, वेश्या-लम्पट, रस्सोंपर नाचने वाले नट, जादूगर, जम्भक, पहलवान, सिपाही आदिका स्थान

योग, देश-भाषा-विज्ञान, छन्द, नाटक आख्यान आख्यायिका सम्बन्धी आलोचनाओं और रसालापोंसे भी नागरिकोंका मनोविनोद किया करती थीं। भासके नाटकों, तथा ललितविस्तर आदि बौद्ध काव्योंसे पता चलता है कि ये गोष्ठियां उन दिनों बहुत प्रचलित थीं और रईसीका आवश्यक अंग मानी जाती थीं। यह जरूर है कि कभी कभी लोगोंमें इस प्रकारकी गोष्ठियोंके विषयमें निन्दा भी होती थी। वात्स्यायनने भले आदमियोंको निन्दित गोष्ठियोंमें जानेका निषेध किया है (पृ० ५८-५९)। इन गोष्ठियोंके समान ही एक और सभा नागरिकोंकी बैठा करती थी, जिसे वात्स्यायनने आपानक कहा है। इसमें मद्यपानकी व्यवस्था होती थी पर हमारे विषयसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। दो और सभाएं—उद्यानयात्रा और समस्याक्रीड़ा कामसूत्रमें बताई गई हैं, जिनकी चर्चा यहाँ नहीं करेंगे।

३१—सभा

संगीत रत्नाकर (१२५१-१३६०) में रत्नस्तम्भ विभूषित पुष्प प्रकर शोभित नाना वितान-सम्पन्न अत्यन्त समृद्धशाली रंगशालाका उल्लेख है। इसके बीचमें सिंहासन पर सभापति बैठा करते थे। इस सभापतिमें सभी प्रकारकी कला-मर्मज्ञता और विवेकशीलताका होना आवश्यक माना गया है। सभापतिकी बाईं ओर अन्तःपुरकी देवियोंके लिये और दाहिनी ओर प्रधान अमात्यादिके लिये स्थान नियत हुआ करते थे। इन प्रधानोंके पीछे कोशाध्यक्ष और अन्यान्य करणाधिप या अफसर रहा करते और इनके निकट ही लोक-वेदके विचक्षण विद्वान् कवि और रसिक जन बैठा करते थे। बड़े-बड़े ज्योतिषी और वैद्योंके आसन विद्वानोंमें हुआ करता था। इसी ओर मन्त्रि-

मण्डली भी बैठती थी। बाईं ओर अन्तःपुरिकाओंकी मंडली बैठा करती थी। सभापतिके पीछे रूप यौवन-संभारशालिनी चारु-चामर धारिणी स्त्रियां धीरे-धीरे चवर डुलाया करती थीं, जो अपने कंकण झंकारसे दर्शकोंका चित्त मोहती रहती थीं। सामनेकी बाईं ओर कथक, वन्दी और कलावत आदि रहा करते थे। सभाकी शान्ति-रक्षाके लिये दक्ष वेत्रधर भी तैयार रहते थे।

राजशेखरने काव्यमीमांसामें एक और प्रकारकी सभाका विधान किया है, जो मनोरंजक है। इसके अनुसार राजा काव्य-साहित्यादि की चर्चाके लिये जो सभामंडप होगा, उसमें सोलह खंभे, चार द्वार और आठ अटारियां होंगी। राजाका क्रीड़ा-गृह इसीसे सटा हुआ होगा। इसके बीचमें चार खम्भोंको छोड़कर हाथभर ऊंचा एक चबूतरा होगा और उसके ऊपर एक मणिजटित वेदिका। इसीपर राजाका आसन होगा। इसके उत्तरकी ओर संस्कृत भाषाके कवि बैठेंगे। यदि एक ही आदमी कई भाषाओंमें कवित्व करता हो, तो जिस भाषामें अधिक प्रवीण हो वह उसी भाषाका कवि माना जायगा। जो कई भाषाओंमें बराबर प्रवीण हो, वह जहां चाहे उठकर बैठ सकता है। संस्कृत कवियोंके पीछे वैदिक, दार्शनिक, पौराणिक स्मृति शास्त्री, वैद्य, ज्योतिषी आदिका स्थान होगा। पूर्वकी ओर प्राकृत भाषाके कवि और उनके पीछे नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन, कुशीलव, तालावचर आदि रहेंगे। पश्चिमकी ओर अपभ्रंश भाषाके कवि और उनके पीछे चित्रकार, लेपकार, मणिकार, जौहरी, सुनार, बढ़ई, लोहार आदिका स्थान होगा। दक्षिणकी ओर पैशाची भाषाके कवि होंगे और उनके पीछे वेश्या, वेश्या-लम्पट, रस्सीपर नाचने वाले नट, जादूगर, जम्भक, पहलवान, सिपाही आदिका स्थान

निर्दिष्ट रहेगा। इस विवरणसे ही प्रकट है कि राजशेखरकी बनाई हुई यह सभा मुख्यतः कवि सभा है, यद्यपि नाचने गानेवालोंकी उपस्थितिसे अनुमान होता है कि इस प्रकारकी सभामें अवसर विशेषपर गान वाद्य और नृत्यका भी आयोजन हो सकता था।

जो संगीत भवन स्थायी हुआ करते थे, उनके स्थानपर मृदंग स्थापनकी जगहें बनी होती थीं। कादम्बरीमें एक जगह इस प्रकारकी उपमा दी गई है, जिससे इस व्यवस्थाका पता चलता है 'सङ्गीतभवनमिवानेकस्थानस्थापित-मृदङ्गम्।' यह मृदङ्ग उन दिनोंकी सङ्गीतकी मजलिसका अत्यन्त आवश्यक उपादान था। कालिदासने सङ्गीत प्रसंग उठते ही 'प्रसक्तसंगीतमृदंगघोष' कहकर इस बातकी ओर इंगित किया है।

३२—गणिका

इन सभाओंमें गणिकाका आना एक विशेष आकर्षक व्यापार था। यहां यह स्पष्ट समझ जाना चाहिए कि गणिका यद्यपि वारांगना ही हुआ करती थी, तथापि कामसूत्रसे जान पड़ता है कि वह साधारण वेश्याओंसे कहीं अधिक सम्मानका पात्र मानी जाती थी। वेश्याओंमें जो सबसे सुन्दरी और गुणवती होती थी, उसे ही 'गणिका' की आख्या मिलती थी। राजा लोग उसका सम्मान करते थे—

आभिरभ्युच्छ्रिता वेश्या शीलरूपगुणान्विता।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि॥
पूजिता च सदा राज्ञा गुणवद्भिश्च संस्तुता।
प्रार्थनीयाभिगम्या च लक्ष्यभूता च जायते॥

(पृ० ४०)

ललितविस्तरमें राजकुमारीको गणिकाके समान शास्त्रज्ञा बताया गया है (शास्त्रे विधिज्ञकुशला गणिका यथैव)। ये गणिकाएं शास्त्रकी जानकार और कवित्वकी रसिका हुआ करती थीं। राजशेखरने काव्य मीमांसामें इस बातको सिद्ध करना चाहा है कि पुरुषोंके समान स्त्रियां भी कवि हो सकती हैं और प्रमाण स्वरूप वे कहते हैं कि सुना जाता है कि प्राचीन कालमें बहुत-सी गणिकाएं और राजदुहिताएं बहुत उत्तम कवि हो गई हैं। इन गणिकाओंकी पुत्रियोंको नागरक जनके पुत्रोंके साथ पढ़नेका अधिकार था। गणिका वस्तुतः समस्त गण (या राष्ट्र) की सम्पत्ति मानी जाती थी और बौद्ध साहित्यसे इस बातका प्रमाण खोजा जा सकता है कि वह समस्त समाजके गर्वकी वस्तु समझी जाती थी। संस्कृतके नाटकमें उसे नगरश्री कहा गया है। मृच्छकटिक नाटकमें वसन्तसेना नामक एक ऐसी ही गणिकाका प्रेम वृत्तान्त चित्रित किया गया है। सारे नाटकमें एक जगह भी वसन्तसेनाका नाम लघु भावसे नहीं लिया गया। अदालतके प्रधान अधिकरणिकसे लेकर कायस्थ तक उसके प्रति अत्यन्त सम्मानका भाव प्रकट करते हैं। उसकी वृद्धा माता जब गवाही देनेके लिये आती है, तो उसे अधिकरणिक भी 'आर्या' कहकर सम्बोधन करते हैं। इन सब बातोंसे जान पड़ता है कि अत्यन्त प्राचीन कालमें गणिका यथेष्ट सम्मानीया मानी जाती थी। वैशालीकी अम्बपालिका गणिका समस्त नगरीके अभिमानकी वस्तु थी। गणिकाके सम्मानका अन्दाजा मृच्छकटिककी इस कथासे भी लग सकता है कि राज्यकी ओरसे जब सब गाड़ियोंकी तलाशी करनेकी कठोर आज्ञा थी, तब भी पुलिसके सिपाहियोंमें से किसी किसीने सिर्फ यह जानकर ही चारुदत्तकी गाड़ीकी तलाशी नहीं ली कि उसमें वसन्तसेना थी। आजके जमानेमें और

निर्दिष्ट रहेगा। इस विवरणसे ही प्रकट है कि राजशेखरकी बनाई हुई यह सभा मुख्यतः कवि सभा है, यद्यपि नाचने गानेवालोंकी उपस्थितिसे अनुमान होता है कि इस प्रकारकी सभामें अवसर विशेषपर गान वाद्य और नृत्यका भी आयोजन हो सकता था।

जो संगीत भवन स्थायी हुआ करते थे, उनके स्थानपर मृदंग स्थापनकी जगहें बनी होती थीं। कादम्बरीमें एक जगह इस प्रकारकी उपमा दी गई है, जिससे इस व्यवस्थाका पता चलता है 'सङ्गीतभवनमिवानेकस्थानस्थापित-मृदङ्गम्।' यह मृदङ्ग उन दिनोंकी सङ्गीतकी मजलिसका अत्यन्त आवश्यक उपादान था। कालिदासने सङ्गीत प्रसंग उठते ही 'प्रसक्तसंगीतमृदंगघोष' कहकर इस बातकी ओर इंगित किया है।

३२—गणिका

इन सभाओंमें गणिकाका आना एक विशेष आकर्षक व्यापार था। यहां यह स्पष्ट समझ जाना चाहिए कि गणिका यद्यपि वारांगना ही हुआ करती थी, तथापि कामसूत्रसे जान पड़ता है कि वह साधारण वेश्याओंसे कहीं अधिक सम्मानका पात्र मानी जाती थी। वेश्याओंमें जो सबसे सुन्दरी और गुणवती होती थी, उसे ही 'गणिका' की आख्या मिलती थी। राजा लोग उसका सम्मान करते थे—

> आभिरभ्युच्छ्रिता वेश्या शीलरूपगुणान्विता।
> लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंस
> पूजिता च सदा राज्ञा गुणव
> प्रार्थनीयाभिगम्या च ल

पर जैसे-जैसे नाटकीय कला उत्कर्षको प्राप्त करती गई वैसे-वैसे इनकी सामाजिक मर्यादा भी कुछ ऊंची उठती गई। पर सब मिलाकर समाजकी दृष्टिमें वे बहुत ऊंचे नहीं उठे। यद्यपि नाटकों, काव्यों और कामशास्त्रीय ग्रन्थोंसे इनकी उच्चतर सामाजिक मर्यादाके प्रमाण संग्रह किए जा सकते हैं, परन्तु समाजकी मनोभावनाको समझनेके लिये इन ग्रन्थोंकी अपेक्षा स्मृति ग्रन्थोंकी गवाही कहीं अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय है।

३२—ताण्डव और लास्य

नाट्यशास्त्रमें दो प्रकारके नाचोंका विस्तृत उल्लेख है, ताण्डव और लास्य। ताण्डवके प्रसंगमें मुनियोंने भरतमुनिसे प्रश्न किया कि यह नृत्त (ताण्डव) किसलिये भगवान् शंकरने प्रवृत्त किया, तो भरतमुनिने उत्तर दिया था कि नृत्त किसी अर्थकी अपेक्षा नहीं रखता। यह शोभाके लिये प्रयुक्त होता है। स्वभावतः ही प्रायः लोग इसे पसन्द करते हैं और यह मङ्गल जनक है, इसीलिये शिवजीने इसे प्रवर्तित किया। विवाह, जन्म, प्रमोद, अभ्युदय आदिके उत्सवोंके अवसर पर यह विनोदजनक है, इसलिये भी इसका प्रवर्तन हुआ है [नाट्यशास्त्र (चौखंबा) ४-२६०-३]। इस कथनसे ज्ञात पड़ता है कि विवाह आदिके अवसरों पर नृत्त या ताण्डवका अभिनय होता था। नाट्यशास्त्रमें नृत्तके आविर्भावकी बड़ी मनोरंजक कहानी दी हुई है। ब्रह्माके अनुरोध पर नाना भूतगण-समावृत हिमालयके पृष्ठ पर शिवने सन्ध्याकालमें नाचना आरम्भ किया। तण्डु नामक मुनिको शिवने इसी नृत्तकी विधि बताई थी। जिस प्रकार हाथ और पैरके योगसे १०८ प्रकारके करण होते हैं, दो करण (अर्थात् हाथ और पैरकी विशेष भंगियाँ)

गाड़ियां चाहे छोड़ दी जातीं, पर वारविलासिनीकी गाड़ीकी तलाशी जरूर ली जाती। पर बादमें गण-राज्योंके उठ जानेके बादसे गणिकाका सम्मान भी जाता रहा। परवर्ती कालमें ठीक इसी सम्मान और आदरकी अधिकारिणी वारवनिताका उल्लेख नहीं मिलता। गण-राज्योंके साथ जो गणिकाका सम्बन्ध था, वह मनुके उस एक साथ कहे हुए निषेध वाक्यसे भी जाना जाता है, जिसमें कहा गया है कि ब्राह्मणको गणान्न और गणिकान्न नहीं ग्रहण करना चाहिए (मनु० ४-२०९)।

गणिकाके अतिरिक्त जो स्त्री-पुरुष अभिनय आदिका पेशा करते थे, वे समाजमें किस दृष्टिसे देखे जाते थे ; इस विषयमें प्राचीन ग्रन्थोंमें दो तरहकी बातें पाई जाती हैं। धर्म-ग्रन्थोंके अनुसार तो निश्चित रूपसे उन्हें बहुत ऊंचा स्थान नहीं दिया गया। मनु० (८-६५) और याज्ञवल्क्य (२-७०) तो उनकी दी हुई गवाहीको भी प्रामाणिक नहीं मानते। इसका कारण शायद यह है कि वे अत्यन्त झूठे और फरेबी माने जाते रहे होंगे। जाया-जीव, रूपजीव आदि शब्दोंसे नटोंको निर्देश करनेसे जान पड़ता है कि ये अपनी पत्नियोंके रूपका व्यवसाय किया करते थे। इस बातका समर्थन इस प्रकार भी होता है कि मनुने नटीके साथ बलात्कार करनेवाले व्यक्तिको कम दण्ड देनेका विधान किया है (मनु० ८-३६२)। स्मृति ग्रन्थोंमें यह भी कहा गया है कि इनके हाथका अन्न अभोज्य है। इस प्रकार धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे विचार किया जाय, तो नाचनेका पेशा बहुत निकृष्ट माना जाता था। जान पड़ता है कि शुरू शुरूमें जब नाट्यकला उन्नत नहीं हुई थी और नट लोग पुतलियोंको नचाकर या इसी तरहके अन्य व्यवसायोंसे जीविका उपार्जन करते थे, तब से ही समाजमें उनके प्रति एक अवज्ञाका भाव रह गया था।

गाड़ियां चाहे छोड़ दी जातीं, पर वारविलासिनीकी गाड़ीकी तलाशी जरूर ली जाती। पर बादमें गण-राज्योंके उठ जानेके बादसे गणिकाका सम्मान भी जाता रहा। परवर्ती कालमें ठीक इसी सम्मान और आदरकी अधिकारिणी वारवनिताका उल्लेख नहीं मिलता। गण-राज्योंके साथ जो गणिकाका सम्बन्ध था, वह मनुके उस एक साथ कहे हुए निषेध वाक्यसे भी जाना जाता है, जिसमें कहा गया है कि ब्राह्मणको गणान्न और गणिकान्न नहीं ग्रहण करना चाहिए (मनु० ४-२०९)।

गणिकाके अतिरिक्त जो स्त्री-पुरुष अभिनय आदिका पेशा करते थे, वे समाजमें किस दृष्टिसे देखे जाते थे ; इस विषयमें प्राचीन ग्रन्थोंमें दो तरहकी बातें पाई जाती हैं। धर्म-ग्रन्थोंके अनुसार तो निश्चित रूपसे उन्हें बहुत ऊंचा स्थान नहीं दिया गया। मनु० (८-६५) और याज्ञवल्क्य (२-७०) तो उनकी दी हुई गवाहीको भी प्रामाणिक नहीं मानते। इसका कारण शायद यह है कि वे अत्यन्त झूठे और फरेबी माने जाते रहे होंगे। जाया-जीव, रूपजीव आदि शब्दोंसे नटोंको निर्देश करनेसे जान पड़ता है कि ये अपनी पत्नियोंके रूपका व्यवसाय किया करते थे। इस बातका समर्थन इस प्रकार भी होता है कि मनुने नटीके साथ बलात्कार करनेवाले व्यक्तिको कम दण्ड देनेका विधान किया है (मनु० ८-३६२)। स्मृति ग्रन्थोंमें यह भी कहा गया है कि इनके हाथका अन्न अभोज्य है। इस प्रकार धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे विचार किया जाय, तो नाचनेका पेशा बहुत निकृष्ट माना जाता था। जान पड़ता है कि शुरू शुरूमें जब नाट्यकला उन्नत नहीं हुई थी और नट लोग पुतलियोंको नचाकर या इसी तरहके अन्य व्यवसायोंसे जीविका उपार्जन करते थे, तब से ही समाजमें उनके प्रति एक अवज्ञाका भाव रह गया था।

३४—अभिनय

सबसे पहले ब्राह्मण लोग पुतर नामक वाद्यविन्यास विधिपूर्वक कर लेते थे; फिर भाण्ड वाद्यके बजानेवालोंके साथ नर्तकी प्रवेश करती थी, उसकी अंजलिमें पुष्प होते थे। एक विशेष प्रकारकी नृत्य-भंगीसे वह रंग-स्थल पर पुष्पोपहार रखती थी। फिर देवताओंको विशेष भंगीसे नमस्कार करके वह अभिनय आरम्भ करती थी। जब वह गानेके साथ अभिनय करती थी, तब बाजा बजना बन्द रहता था और जब वह अंगहारका प्रयोग करने लगती थी, तब वाद्य भी बजने लगते थे। इस प्रकार गीत और नृत्यके पश्चात् नर्तकी रंगशालासे बाहर निकलती थी और फिर इसी विधानसे अन्यान्य नर्तकियां रंगभूमिमें पदार्पण करती थीं और बारी-बारीसे पिंडी बंधोंका अभिनय करती थीं (ना० शा० ४, २६९-७७)।

प्राचीन साहित्यमें इस मनोहर नृत्य अभिनयके अनेक उल्लेख हैं। यहाँ पर एकका उल्लेख किया जा रहा है, जो कालिदासकी सरस लेखनीसे निकला है। यह चित्र इतना भावव्यंजक और सरस है कि उसपर विशेष टीका करना अन्याय जान पड़ता है। मालविकाग्निमित्र नाटकमें दो नृत्याचार्योंमें अपनी कला-चातुरीके सम्बन्धमें तनातनी होती है। यह तय पाता है कि अपनी-अपनी शिष्याओंका अभिनय दोनों दिखाएं और अपक्षपातिनी भगवती कौशिकी दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है इस बातका निर्णय करें। दोनों आचार्य राजी हो गए। मृदङ्ग बज उठा। प्रेक्षागारमें दर्शकगण यथास्थान बैठ गए। भिक्षुणीकी अनुमतिसे रानीकी परिचारिका मालविकाके शिक्षक आचार्य गणदास यवनिकाके अन्तरालसे सुसज्जिता शिष्या (मालविका) को रंगभूमिमें ले आए। यह पहले ही स्थिर हो गया था कि चलित नृत्य —जिसमें अभिनेता

मिलकर किस प्रकार नृत्तमातृका बनती हैं, फिर तीन करणोंसे कलापक, चारसे मण्डन और पांच करणोंसे संघातक बनता है। इनसे अधिक नौ तक करणोंके संयोगसे किस प्रकार अंगहार बनते हैं, इन बातोंको विशद रूपसे समझाया। अङ्गहार नृत्तके महत्त्वपूर्ण अंग हैं। ये बत्तीस प्रकारके बताए गए हैं। इन भिन्न अंगहारोंके साथ चार रेचक हैं—पाद रेचक, कटी रेचक, कर रेचक और कंठ रेचक। जब शिव इन रेचकों और अंगहारोंके द्वारा अपना नृत्त दिखला रहे थे, उसी समय पार्वती आनन्दोल्लासमें सुकुमार भावसे नाच उठीं। पार्वतीका यह नाच नृत्त (या उद्धत नाच) नहीं था, बल्कि नृत्य (सुकुमार नाच) था। इसीको लास्य कहते हैं। एक और अवसर पर दक्ष-यज्ञ विध्वंसके समय सन्ध्याकालको जब शिव नृत्त कर रहे थे, उस समय शिवके गण मृदङ्ग, भेरी, पटह, भाण्ड, डिंडिम, गोमुख, पणव, दर्दुर आदि आतोद्य बाजे बज रहे थे, शिवने आनन्दोल्लासमें समस्त अङ्गहारोंके नाना भांतिके प्रयोगसे लय और तालके अनुकूल नृत्य किया। देव-देवियां और शिवके गण इस अवसर पर चूके नहीं। डमरू बजाकर प्रमत्तभावसे नर्तमान शंकरकी विविध भंगियोंको अर्थात् विविध अंगहारोंके पिण्डीभूत बंध विशेष को—पिण्डियोंको—उन्होंने याद रखा। ये पिण्डियां उन-उन देवताओंके नाम पर प्रसिद्ध हुईं, जिन्होंने उन्हें देखा था। तबसे किसी उत्सव और आमोदके अवसर पर इस मांगल्यजनक नृत्तका प्रयोग होता आ रहा है। प्राचीन भारतीय रंगशालामें उन दिनों नृत्त या ताण्डव नृत्यका बड़ा प्रचलन था। अनेक प्राचीन मन्दिरों पर भिन्न-भिन्न करण और अंगहारोंके चित्र उत्कीर्ण हैं। नाट्यशास्त्रके चतुर्थ अध्यायमें विस्तृत रूपसे इसके प्रयोगकी बात बताई गई है।

३४—अभिनय

सबसे पहले ब्राह्मण लोग कुतप नामक वाद्यविन्यास विधिपूर्वक कर लेते थे ; फिर भाण्ड वाद्यके बजानेवालोंके साथ नर्तकी प्रवेश करती थी, उसकी अंजलिमें पुष्प होते थे। एक विशेष प्रकारकी नृत्य-भंगीसे वह रंग-स्थल पर पुष्पोपहार रखती थी। फिर देवताओंको विशेष भंगीसे नमस्कार करके वह अभिनय आरम्भ करती थी। जब वह गानेके साथ अभिनय करती थी, तब बाजा बजना बन्द रहता था और जब वह अंगहारका प्रयोग करने लगती थी, तब वाद्य भी बजने लगते थे। इस प्रकार गीत और नृत्यके पश्चात् नर्तकी रंगशालासे बाहर निकलती थी और फिर इसी विधानसे अन्यान्य नर्तकियां रंगभूमिमें पदार्पण करती थीं और बारी-बारीसे पिंडी बंधोंका अभिनय करती थीं (ना० शा० ४, २६९-७७)।

प्राचीन साहित्यमें इस मनोहर नृत्य अभिनयके अनेक उल्लेख हैं। यहां पर एकका उल्लेख किया जा रहा है, जो कालिदासकी सरस लेखनीसे निकला है। यह चित्र इतना भावव्यंजक और सरस है कि उसपर विशेष टीका करना अन्याय जान पड़ता है। मालविकाग्निमित्र नाटकमें दो नृत्याचार्योंमें अपनी कला-चातुरीके सम्बन्धमें तनातनी होती है। यह तय पाता है कि अपनी-अपनी शिष्याओंका अभिनय दोनों दिखाएं और अपक्षपातिनी भगवती कौशिकी दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है इस बातका निर्णय करें। दोनों आचार्य राजी हो गए। मृदङ्ग बज उठा। प्रेक्षागारमें दर्शकगण यथास्थान बैठ गए। भिक्षुणीकी अनुमतिसे रानीकी परिचारिका मालविकाके शिक्षक आचार्य गणदास यवनिकाके अन्तरालसे सुसज्जिता शिष्या (मालविका) को रंगभूमिमें ले आए। यह पहले ही स्थिर हो गया था कि चलित नृत्य —जिसमें अभिनेता

दूसरेकी भूमिकामें उतरकर अपने ही मनोभाव व्यक्त करता है. ऐसे नृत्य-गीतके साथ होनेवाले अभिनय—को दिखाया जायगा। मालविकाने गान शुरू किया। मर्म यह था कि दुर्लभ जनके प्रति प्रेम परवशा प्रेमिकाका चित्त एकबार पीड़ासे भर उठता है, और फिर आशासे उल्लसित हो उठता है, बहुत दिनोंके बाद फिर उसी प्रियतमको देखकर उसीकी ओर वह आंखें विछाए है। भाव मालविकाके सीधे हृदयसे निकले थे, कण्ठ उसका करुण था। उसके अतुलनीय सौन्दर्य, अभिनय व्यंजित अंग सौष्ठव, नृत्यकी अभिराम भंगिमा और कंठके मधुर संगीतसे राजा और प्रेक्षकगण मन्त्र-मुग्धसे हो रहे। अभिनयके बाद ही जब मालविका पर्देकी ओर जाने लगी, तो विदूषकने किसी बहाने उसे रोका। वह ठिठक कर खड़ी हो गई—उसका बायां हाथ कटिदेश पर विन्यस्त था, उसका कंकण कलाई पर सरक आया था, दाहिना हाथ शिथिल श्यामालताके समान सीधा झूल पड़ा था, झुकी हुई दृष्टि पाद पर अड़ी हुई थी, जहां पैरके अंगूठे फर्शपर बिछे हुए पुष्पोंको धीरे-धीरे सरका रहे थे और कमनीय देहलता नृत्य भंगीसे ईषदुन्नीत थी,—मालविका ठीक उसी प्रकार खड़ी हुई, जिस सौष्ठवके साथ देह-विन्यास करके अभिनेत्रीको रंगभूमिमें खड़ा होना उचित था :

वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितंबे
कृत्वा श्यामाविटपिसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादांगुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्यादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायताक्षम्।

परिव्राजिका कौशिकीने दाद दी—अभिनय बिल्कुल निर्दोष है। बिना बोले भी अभिनयका भाव स्पष्ट ही प्रकाशित हुआ है, अंगविक्षेप बहुत

सुन्दर और चातुरी-पूर्ण हुआ है। जिस-जिस रसका अभिनय हुआ है, उस-उस रसमें तन्मयता स्पष्ट लक्षित हुई है। भाव चेष्टा सजीव होकर स्पष्ट हुई है, मालविकाने बलपूर्वक अन्य विषयोंसे हमारे चित्तको अभिनयकी ओर खींच लिया है—

अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः,
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद् विकल्पानुवृत्तौ,
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबंधः स एव।

इस चित्रमें कालिदासने उस युगके अभिनयकी सजीव मूर्ति अंकित की है।

यह समझना भूल है कि अभिनयमें केवल अंगोंकी विशेष प्रकारकी भंगिमाएं ही प्रधान स्थान अधिकार करती थीं। अभिनयके चारों अंगों अर्थात् आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक—पर समान रूपसे जोर दिया जाता था। आंगिक अर्थात् देह-सम्बन्धी अभिनय उन दिनों चरम उत्कर्ष पर था। इसमें देह मुख और चेष्टाके अभिनय शामिल थे। सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और पैर इन अंगोंके सैकड़ों प्रकारके अभिनय नाट्य-शास्त्र और अभिनयदर्पण आदि ग्रन्थोंमें गिनाए गए हैं। नाट्यशास्त्रमें विस्तारपूर्वक बताया गया है कि किस अंग या उपांगके अभिनयका क्या विनियोग है, अर्थात् वह किस अवसर पर अभिनीत हो सकता है। फिर नाना प्रकारके घूमकर नाची जानेवाली भंगिमाओंका भी विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है। फिर वाचिक अर्थात् वचन सम्बन्धी अभिनयको भी उपेक्षणीय नहीं समझा जाता था। नाट्यशास्त्रमें कहा गया है (१५-२) कि वचनका

अभिनय बहुत सावधानीसे करना चाहिए क्योंकि यह नाट्यका शरीर है, शरीर और पोशाकके अभिनय वाक्यार्थको ही व्यंजित करते हैं। उपयुक्त स्थलोंपर उपयुक्त यति और काकु देकर बोलना, नाम-आख्यात-निपात-उपसर्ग-समास-तद्धित-विभक्ति-संधि आदिको ठीक-ठीक प्रकट करना, छंदोंको उचित ढंगसे पढ़ सकना, शब्दोंके प्रत्येक स्वर और व्यंजनको उपयुक्त रीतिसे उच्चारण कर सकना, इत्यादि बातें अभिनयका प्रधान अंग मानी जाती थीं। परन्तु यही सब कुछ नहीं था। केवल शारीरिक और वाचिक अभिनय भी अपूर्ण माने जाते थे। आहार्य या वस्त्रालंकारोंकी उपयुक्त रचना भी अभिनयका ही अंग समझी जाती थी। यह चार प्रकारकी होती थी—पुस्त, अलंकार, अंग-रचना और संजीव। नाटकके स्टेजको आजके समान 'रियलिस्टिक' बनानेका ऐसा पागलपन तो नहीं था, परन्तु पहाड़, रथ, विमान आदिको कुछ यथार्थता का रूप देनेके लिये तीन प्रकारके पुस्त व्यवहृत होते थे। वे या तो बांस या सरकंडेसे बने होते थे, जिनपर कपड़ा या चमड़ा चढ़ा दिया जाता था, या फिर यंत्रादिकी सहायतासे फर्जी बना लिए जाते थे, या फिर अभिनेता इस बातकी चेष्टा करता था, जिससे उन वस्तुओंका बोध प्रेक्षकको हो जाता था (२३, ५-७) इन्हें क्रमशः संधिम, व्याजिम और चेष्टिम पुस्त कहते थे। अलंकारमें विविध प्रकारके माल्य, आभरण, भूषण, वस्त्र आदिकी गणना होती थी। अंग रचनामें पुरुषों और स्त्रियोंके बहुविध वेष-विन्यास शामिल थे। प्राणियोंके प्रवेशको संजीव कहते थे (२३-१५२) परन्तु इन तीनों प्रकारके अभिनयोंसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण अभिनय सात्त्विक था। भिन्न-भिन्न रसों और भावोंके अभिनयमें अभिनेता या अभिनेत्रीकी वास्तविक परीक्षा होती थी। नाट्यशास्त्रने जोर देकर कहा है कि सत्त्वमें ही नाट्य प्रतिष्ठित है

(२४-१), सत्वकी अधिकता, समानता और न्यूनतासे नाटक श्रेष्ठ, मध्यम या निकृष्ट हो जाता है (२४-२); यह सत्व अव्यक्त रूप है, भाव और रसके आश्रय पर है, इसके अभिनयमें रोमांच अश्रु आदिका यथास्थान और यथारस प्रयोग अभीष्ट है।

३५—नाटकके आरम्भमें

जब कोई नाटक खेला जानेवाला होता था तो उसके आरम्भमें एक बहुत आडम्बरपूर्ण विधिका अनुष्ठान किया जाता था। इसे पूर्वरंग या नाटक आरम्भ होनेके पहलेकी क्रिया कहते थे। पहले नगाड़ा बजाकर नाटक आरम्भ होनेकी सूचना दी जाती थी, फिर गायक और वादक लोग रंगभूमिमें आकर यथास्थान बैठ जाते थे, कोरस आरम्भ होता था, मृदंग, वेणु, वीणा आदि वाद्य यन्त्र ठीक किए जाते थे, ताल ठीक होनेपर सभी वाद्य नर्तकोंके नुपूर झंकारके साथ बज उठते थे और इन कार्योंके बाद नाटकका उत्थापन होता था। पण्डितोंमें यहां तक की क्रियामें मतभेद है कि वे पर्देके पीछे होती थीं या बाहर। पर चूंकि शुरूमें ही अवतरण नामक क्रियाका उल्लेख है, इससे जान पड़ता है कि ये पर्देके पीछे न होकर वास्तवमें रङ्गभूमिमें ही होते थे। फिर सूत्रधारका प्रवेश होता था, उसके एक पार्श्वमें भृङ्गारमें जल लिए हुए एक भृङ्गारधर होता था और दूसरी ओर जर्जर (ध्वजा) लिए हुए दूसरा जर्जर-धर। इन दोनों पारिपार्श्विकोंके साथ सूत्रधार पांच पग आगे बढ़ आता था। उद्देश्य ब्रह्माकी पूजा होता था। यह पांच पग बढ़ना मामूली बढ़ना नहीं है, इसके लिये एक विशेष प्रकारकी अभिनय-भंगी होती थी। फिर वह (सूत्रधार) भृङ्गारसे जल लेकर आचमन प्रोक्षणादिसे पवित्र हो

लेता था। वह एक विशेष आडम्बरपूर्ण अभिनय भङ्गीसे विघ्नको जर्जर करनेवाले जर्जर (ध्वज) को उत्तोलित करता था और भिन्न-भिन्न देवताओंको प्रणाम करता था। वह दाहिने पैरके अभिनयसे शिवको और वाम पदके अभिनयसे विष्णुको नमस्कार करता था। पहला पुरुषका और दूसरा स्त्रीका पद समझा जाता था। एक नपुंसक पद भी होता था, जब कि दाहिने पैरको नाभि तक उत्क्षिप्त कर लिया जाता था। इस भङ्गीसे वह ब्रह्माको प्रणाम करता था। फिर विधिपूर्वक चार प्रकारके पुष्पोंसे वह जर्जरकी पूजा करता था। वह वाद्य यन्त्रोंकी भी पूजा करता था और तब नान्दी पाठ होता था। वह सर्वदेवता और ब्राह्मणोंको नमस्कार करता था, देवताओंसे कल्याणकी प्रार्थना करता था, राजाकी विजय कामना प्रकट करता, दर्शकोंकी धर्म वृद्धि होनेकी शुभाकांक्षा प्रकट करता था, कवि (नाटककार) को यश मिले और उसकी धर्मवृद्धि हो, ऐसी प्रार्थना करता था, और अन्तमें अपनी यह शुभकामना भी प्रकट करता था कि इस पूजासे समस्त देवता प्रसन्न हों। प्रत्येक शुभाकांक्षाकी समाप्तिपर पारिपार्श्विक लोग ऐसा ही हो (एवमस्तु) कहकर प्रति वचन देते थे और नान्दी पाठ समाप्त होता था। फिर शुष्कावकृष्टा विधिके बाद वह एक ऐसा श्लोक पाठ करता था, जिसमें अवसरके अनुकूल बातें होती थीं, अर्थात् वह या तो जिस देवताकी विशेष पूजाके अवसर पर नाटक खेला जा रहा था, उस देवताकी स्तुतिका श्लोक होता था, या फिर जिस राजाके उत्सव पर अभिनय हो रहा है उसकी स्तुतिका। या फिर वह ब्रह्माकी स्तुतिका पाठ करता था। फिर जर्जरके सम्मानके लिये भी वह एक श्लोक पढ़ता था और फिर चारी नृत्य शुरू होता था। इसकी विस्तृत व्याख्या और विधि नाट्यशास्त्रके ग्यारहवें अध्यायमें दी हुई है। यह चारीका

प्रयोग पार्वतीकी प्रीतिके उद्देश्यसे किया जाता था। क्योंकि पूर्वकालमें कभी शिवने इस विशेष भंगीसे ही पार्वतीके साथ क्रीड़ा की थी। इस सविलास अंग-विक्षेपित रूप चारीके बाद महाचारीका विधान भी नाट्यशास्त्रमें दिया हुआ है। इस समय सूत्रधार जर्जर या ध्वजाको पारिपार्श्विकके हाथमें दे देता था। फिर भूतगणकी प्रीतिके लिये ताण्डवका भी विधान है। फिर विदूषक आकर कुछ ऐसी ऊलजुलूल बातें करता था, जिससे सूत्रधारके चेहरे पर स्मित हास्य छा जाता था और फिर प्ररोचना होती थी, जिसमें नाटकके विषय-वस्तु अर्थात् किसकी कौनसी जीत या हारकी कहानी अभिनीत होने वाली है, ये सब बातें बता दी जाती थीं। और अब वास्तविक नाटक शुरू होता था। शास्त्रमें ऊपरकी कही बातें विस्तारपूर्वक कही गई हैं; परन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि इस क्रियाको संक्षेपमें भी किया जा सकता है। और यदि इच्छा हो तो और भी विस्तारपूर्वक करनेका निर्देश देनेमें भी शास्त्र चूकता नहीं। ऊपर बताई हुई क्रियाओंके प्रयोगसे यह विश्वास किया जाता था कि अप्सराएं, गन्धर्व, दैत्य, दानव, राक्षस, गुह्यक, यक्ष तथा अन्यान्य देवगण और रुद्रगण प्रसन्न होते हैं और नाटक निर्विघ्न समाप्त होता है। नाट्यशास्त्रके बादके इसी विषयके लक्षणग्रंथोंमें यह विधि इतनी विस्तारपूर्वक नहीं कही गई है। दशरूपक, साहित्यदर्पण आदिमें तो बहुत संक्षेपमें इसकी चर्चा भर कर दी गई है। इस बातसे यह अनुमान होता है कि बादको इतने विस्तार और आडम्बरके साथ यह क्रिया नहीं होती होगी। विश्वनाथके साहित्यदर्पणसे तो इतना स्पष्ट ही हो जाता है कि उनके जमानेमें इतनी विस्तृत क्रिया नहीं होती थी। जो हो, सन् ईसवीके पहले और बहुत बादमें भी इस प्रकारकी विधि रही जरूर है।

३६—नाटकोंके भेद

अभिनीयमान नाटकोंमें सब प्रकारके मनोरंजक और रसोद्दीपक रूपक होते थे। शृंगार, वीर या करुण रस:प्रधान ऐतिहासिक 'नाटक', नागरिक रईसीकी कवि कल्पित प्रेम-कथाओंके 'प्रकरण', धूर्तों और दुष्टोंका हास्योत्तेजक उपस्थापन-मूलक 'भाण', स्त्रीहीन, वीररस प्रधान एकांकी 'व्यायोग', और तीन अंकका 'समवकार', भयानक दृश्योंको दिखाने वाला भूत-प्रेत पिशाचोंका उपस्थापक, 'डिम', स्वर्गीय प्रेमिकाके लिये जूझ पड़ने वाले प्रेमियोंकी सनसनी फैलाने वाली प्रतिद्वंदिता वाला 'ईहामृग', स्त्री-शोककी करुण-कथा-समुचित एकांकी 'अंक', एक ही पात्र द्वारा अभिनीयमात्र विनोद और शृंगार-प्रधान 'वीथी', हंसाने वाला 'प्रहसन' आदि रूपक बहुत लोकप्रिय थे। फिर बहुत तरहके उपरूपक भी थे, जिनमें नाटिकाका प्रचलन सबसे अधिक था। यह स्त्री-प्रधान चार अंकका नाटक होता था और इसका कार्यक्षेत्र साधारणतः राजकीय अन्तःपुर तक ही सीमित था। प्रकरणिका, सट्टक और त्रोटक इसी श्रेणीके हैं। गोष्ठीमें नौ, दस पुरुष और पांच या छः स्त्रियां अभिनय करती थीं, हल्लीशमें एक पुरुष कई स्त्रियोंके साथ नृत्य करता था। इसी प्रकारके और बहुतसे छोटे मोटे रूपकोंका अभिनय होता था। परवर्ती ग्रन्थोंमें अट्ठारह प्रकारके उपरूपक गिनाए गए हैं। उपर्युक्त उपरूपकोंके सिवा नाट्यरासक है, प्रस्थान है, उल्लाप्य है, काव्य है, प्रेखण है, रसिक है, संलापक है, श्रीगदित है, शिल्पक है, विलासिका है, दुर्मल्लिका है, मणिका है। अचरजकी बात यह है कि इतने विशाल संस्कृत साहित्यमें इन उपरूपकोंमेंसे अधिकांशको उदाहरणस्वरूप समझानेके लिये भी मुश्किलसे एकाध पुस्तक

ी है, कभी कभी तो एक भी नहीं मिलती। ऐसा जान पड़ता है
ाहित्यिककी अपेक्षा लौकिक अधिक थे और सर्वसाधारणमें अच्छी
े मिले हुए थे।

३७—ऋतु सम्बन्धी उत्सव

चीन काव्यों, नाटकों, आख्यायिकाओं और कथाओंसे जान पड़ता है
तवर्ष ऋतु-सम्बन्धी उत्सवोंको भली भांति मनाया करता था। इन
ं दो बहुत प्रसिद्ध हैं—वसन्तोत्सव और कौमुदीमहोत्सव। पहला
ऋतुका उत्सव है और दूसरा शरद् ऋतुका। संस्कृतका शायद ही कोई
योग्य कवि हो जिसने किसी-न-किसी बहाने इन दो उत्सवोंकी चर्चा
हो। वसन्तोत्सवके विषयमें यह बात तो अधिक निश्चयके साथ कही
ती है। कालिदास जैसे कविने अपने किसी ग्रन्थमें वसन्तका और
उत्सवका वर्णन करनेका मामूली मौका भी नहीं छोड़ा। मेघदूत वर्षाका
है, पर यक्षप्रियाके उद्यानका वर्णन करते समय प्रियाके चरणोंके आघातसे
फूट उठने वाले अशोक और मुखकी मदिरासे सिंचकर खिल उठनेवाले बकुलके
बहाने कविने वहां भी वसन्तोत्सवको याद किया है। आगे चलकर हम
देखेंगे कि यह अशोक और बकुलका दोहद उत्पन्न करना वसन्तोत्सवका एक
प्रधान अंग था।

वसन्तके कई उत्सव हैं। इनमें सुवसन्तक और मदनोत्सवका वर्णन
सबसे ज्यादा आता है। किसी-किसी पण्डितने दोनोंको एक उत्सव मानकर
गलती की है। वात्स्यायनके कामसूत्रमें यक्षरात्रि, कौमुदीजागर और सुव-
सन्तक ये तीनों उत्सव समस्या-क्रीडाके प्रसंगमें दिए हुए हैं अर्थात् इन
उत्सवोंको नागरिक लोग एकत्र होकर मनाते थे। एक बहुत बादके आचार्य

यशोधरने सुवसन्तकका अर्थ मदनोत्सव बताया है। उसीपर से यह भ्रम पण्डितोंमें फैल गया है। हम आगे चलकर देखेंगे कि सुवसन्तक वस्तुतः अलग उत्सव था और उसके मनानेकी विधि भी दूसरे प्रकार की थी। कामसूत्रमें होलिका नामक एक अन्य उत्सवका उल्लेख है जो आधुनिक होलीके रूपमें अब भी जीवित है। प्राचीन ग्रन्थोंसे जान पड़ता है कि मदनोत्सव फागुनसे लेकर चैत्रके महीने तक मनाया जाता था। इसके दो रूप होते थे, एक सार्वजनिक धूमधामका और दूसरा अन्तःपुरिकाओंके परस्पर विनोद और कामदेवके पूजनका। इसके प्रथम रूपका वर्णन सुप्रसिद्ध सम्राट् हर्षदेवकी रत्नावलीमें इतने मनोहर और सजीव ढंगसे अंकित है कि उस उत्सवका अन्दाजा लगानेके लिये उससे अधिक उपयोगी और कोई वर्णन नहीं हो सकता। इस सार्वजनिक धूमधामके अतिरिक्त इसका एक शान्त सहज रूप और भी था। उसका थोड़ा सा आभास पाठकोंको भवभूति जैसे कविकी शक्तिशाली लेखनीकी सहायतासे दिया जायगा।

३८—मदनोत्सव

सम्राट् श्री हर्षदेवके विवरणसे जान पड़ता है कि दोपहरके बाद सारा नगर मदनोत्सवके दिन पुरवासियोंकी करतल-ध्वनि, मधुर संगीत और मृदंगके मधुर घोपसे मुखरित हो उठता था, नगरके लोग (पौर जन) मदमत्त हो जाते थे। राजा अपने ऊंचे प्रासादकी सबसे ऊपर वाली चन्द्रशालामें बैठकर नगरवासियोंके आमोद प्रमोदको देखा करते थे। नगरकी कामिनियां मधुपान करके ऐसी मतवाली हो जाती थीं कि सामने जो कोई पुरुष पड़ जाता उसपर पिचकारी (शृंगक) के जलकी बौछार करने लगती थीं। बड़े-बड़े रास्तोंके मर्दल नामक बाजेके गम्भीर घोप और चर्चरीकी ध्वनिसे शब्दायमान

हो उठते थे। ढेर-का-ढेर सुगन्धित अबीर दसों दिशाओंमें इतना उड़ता रहता था कि दिशाएं रंगीन हो उठती थीं। जब नगरवासियोंका आमोद पूरे चढ़ाव पर आ जाता तो नगरीके सारे राजपथ केशर-मिश्रित अबीरसे इस प्रकार भर उठते थे मानो उषाकी छाया पड़ रही हो। लोगोंके शरीर पर शोभायमान अलंकार और सिरपर पहने हुए अशोकके लाल फूल, इस लाल-पीले सौन्दर्यको और भी अधिक बढ़ा देते थे। ऐसा जान पड़ता था कि नगरीके सभी लोग सुनहरे रंगमें डुबो दिए गए हैं।

कीर्णैः पिष्टातकौघैः कृतदिवसमुखैः कुंकुमक्षोदगौरैः
हेमालंकारभाभिर्भरनमितशिखैः शेखरैः कैंकिरातैः।
एषा वेषाभिलक्ष्यस्वभवनविजिताशेषवित्तेशकोषा
कौशाम्बी शातकुंभद्रवखचितजनेवैकपीता विभाति।
(रत्ना०—१-११)

राजकीय प्रासाद तथा अन्य समृद्धिशाली भवनोंके सामनेवाले आंगनमें निरन्तर फव्वारा छूटा करता था, जिससे अपनी-अपनी पिचकारीमें जल भरनेकी होड़-सी मची रहती थी। इस स्थान पर पौरयुवतियोंके बराबर आते रहनेसे उनकी मांगके सिन्दूर और गालके अबीर झरते रहते थे, सारा आंगन लाल कीचड़से भर जाता था और फर्श सिन्दूरमय हो उठता था।

धारायंत्रविमुक्तसन्ततपयः पूरप्लुते सर्वतः
सद्यः सान्द्रविमर्दकर्दमकृतक्रीडे क्षणं प्रांगणे।
उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत्सिन्दूररागारुणैः
सैन्दूरीक्रियते जनेन चरणन्यासैः पुरः कुट्टिमम्॥
(रत्नावली, १-१२)

उस दिन वेश्याओंके मुहल्लेमें सबसे अधिक हुड़दंग दिखाई देता था। रसिक नागरिक पिचकारियोंमें सुगन्धित जल भरकर वेश्याओंके कोमल शरीर पर फेंका करते थे और वे सीत्कार करके सिहर उठती थीं। वहां इतना अबीर उड़ता था कि सारा मुहल्ला अन्धकारमय हो जाता था।

अन्तःपुरकी रसिका परिचारिकाएं हाथमें आम्र-मंजरी लिए हुए द्विपदी-खंडका गान करतीं, नृत्य करने लगती थीं। इस दिन इनका आमोद मर्यादा की सीमा पारकर जाता था। वे मदपानसे मत्त हो उठती थीं। नाचते-नाचते उनके केशपाश शिथिल हो जाते थे, कबरी (जूड़ा) को बांधनेवाली मालती-माला खिसककर न जाने कहां गायब हो जाती थी, पैरके नूपुर झटकन-मटकनके वेगको न संभाल सकनेके कारण दुगुने जोरसे झनझनाते रहते थे—नगरीके भीतर और बाहर सर्वत्र आमोद और उल्लासकी प्रचंड आँधी बह जाती थी :

स्रस्तः स्रग्दामशोभां त्यजति विरचिता-
न्याकुलः केशपाशः।
क्षीबाया नूपुरौ च द्विगुणतरमिमौ
क्रन्दतः पादलग्नौ।
व्यस्तः कम्पानुबंधादनवरतमुरो
हन्ति हारोऽयमस्याः।
क्रीड़न्त्याः पीड़येव स्तनभरविनमन्
मध्यभंगानपेक्षम्॥

मदनोत्सवके सार्वजनिक उत्सवका एक अपेक्षाकृत अविरु शान्त-स्निग्ध चित्र भवभूतिके मालती-माधव नामक प्रकरणमें पाया जाता है। उत्सवके दिन

मदनोद्यानमें, जो विशेष रूपसे इसी उत्सवका उद्यान होता था और जिसमें कामदेवका मन्दिर हुआ करता था, नगरके स्त्री-पुरुष एकत्र होते थे और भगवान् कन्दर्पकी पूजा करते थे। वहां सब लोग अपनी इच्छाके अनुसार फूल चुनते, माला बनाते, अबीर कुंकुमसे क्रीड़ा करते और नृत्य-गीत आदिसे मनोविनोद किया करते थे। इस मन्दिरमें सम्भ्रान्त परिवारकी कन्याएं भी आतीं और मदन देवताकी पूजा करके मनोभिलषित वरकी प्रार्थना किया करती थीं। लोगोंकी भीड़ प्रातः कालसे ही शुरू हो जाती और सायंकाल तक अबाध चलती रहती थी। 'मालती-माधव' में वर्णित मदनोद्यानमें अमात्य भूरिवसुकी कन्या मालती भी पूजनके लिये और उत्सव मनानेके लिये गई थी। मशस्त्र पुरुषोंसे सुरक्षित एक विशाल हाथीकी पीठपर बैठकर वह आई थी और उसीपर बैठकर लौट गई थी। मालती सखियों समेत मदनोद्यानमें सैर करने भी गई थी। इससे जान पड़ता है कि इस मेलेमें केवल साधारण नागरिक ही नहीं आते थे सम्भ्रान्तवंशीया कन्याएं भी घूम फिर सकती थीं।

मदनोत्सवके इन दो वर्णनोंके पढ़नेसे पाठकोंके मनमें इनके परस्पर विरोधी होनेकी शंका हो सकती है। पहले वर्णनमें नगरके लोग नगरमें ही सायंकाल मदमत्त हो उठते थे पर दूसरे वर्णनसे जान पड़ता है कि वे सबेरेसे लेकर शामतक मदनोद्यानके मेलेमें आया करते थे। परन्तु असलमें यह विरोध नहीं है। वस्तुतः मदनोत्सव कई दिन तक मनाया जाता था। समूचा वसन्त ऋतु ही उत्सवोंसे भरा होता था। पुराण ग्रन्थोंके देखनेसे जान पड़ता है कि मदनोत्सव चैत्र शुक्ल द्वादशीको शुरू होता था। उस दिन लोग व्रत रखते थे। अशोक वृक्षके नीचे मिट्टीका कलश स्थापन किया जाता था उसमें सफेद चावल भर दिए जाते थे। नाना प्रकारके फल और ईख

विशेष रूपमें पूजोपहारका काम करती थी। कलशको सफेद वस्त्रसे ढंक दिया जाता था और श्वेत चन्दन छिड़का जाता था। कलशके ऊपर एक ताम्र-पत्र रखा जाता था और उसके ऊपर कदली दल बिछाकर कामदेव और रतिकी प्रतिमा बनाई जाती थी। नाना भांतिके गंध-धूपसे और नृत्य-वाद्यसे कामदेवको प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया जाता था (मत्स्यपुराण ७ म अध्याय)। इसके दूसरे दिन अर्थात् चैत्र शुक्ल त्रयोदशीको भी मदनकी पूजा होती थी और निम्नलिखित भावसे स्तुति की जाती थी। चैत्र शुक्ल चतुर्दशीकी रातको केवल पूजा ही नहीं होती था, नाना प्रकारके अश्लील गान भी गाए जाते थे और पूर्णिमाके दिन डटकर उत्सव मनाया जाता था। सम्भवतः त्रयोदशी वाला उत्सव ही मदनोपासनका उत्सव है और पूर्णिमा वाला रत्नावलीमें वर्णित मदनोत्सव।

३९—अशोकमें दोहद

इस उत्सवका सबसे अधिक आकर्षक और सरस रूप अन्तःपुरके अशोक वृक्ष तले होने वाली मदन-पूजा है। महाराज भोजदेवके सरस्वती कंठाभरणमें स्पष्ट ही लिखा है कि यह उत्सव त्रयोदशीके दिन होता था, उस दिन कुसुम्भ रंगकी कंचुकी मात्र धारण करनेवाली तरुणियां प्रौढ़ोंके चित्तको भी चंचल कर देती थीं। महाकवि कालिदासके मालविकाग्निमित्रसे और श्रीहर्षदेवकी रत्नावलीसे इस उत्सवकी एक झलक मिल जाती है। मालविकाग्निमित्रसे जान पड़ता है कि उस दिन मदनदेवकी पूजाके पश्चात् अशोकमें दोहद उत्पन्न किया जाता था। यह दोहद-क्रिया इस प्रकार होती थी—कोई सुन्दरी सब प्रकारके आभरण पहनकर पैरोंमें महावर लगाकर और नूपुर धारण कर बायें ..से अशोक वृक्षपर आघात करती थी। इस चरणाघातकी विलक्षण महिमा । अशोक वृक्ष नीचेसे ऊपर तक पुष्प स्तवकों (गुच्छों) से भर जाता

था। साधारणतः रानी ही यह कार्य करती थीं, परन्तु मालविकाग्निमित्रमें वर्णित घटनाके दिन उनके पैरमें चोट आ गई थी इसलिये अपनी परिचारिकाओंमें सबसे अधिक सुन्दरी मालविकाको ही उन्होंने इस कार्यके लिये नियुक्त किया था। मालविकाकी एक सखी बकुलावलिकाने उसे महावर और नूपुर पहना दिए। मालविका अशोक वृक्षके पास गई, उसके पल्लवोंके एक गुच्छको हाथसे पकड़ा फिर दाहिनी ओर जरा झुकी और बायें पैरको धीरेसे उठाकर अशोक वृक्षपर एक मृदु आघात किया। नूपुर जरासा झुनझुना गया और यह आश्चर्यजनक सरस कृत्य समाप्त हुआ। राजा इस उत्सवमें सम्मिलित नहीं हुए थे, बादमें सयोगवश आ उपस्थित हुए थे। रानीकी अनुपस्थिति ही शायद उनकी अनुपस्थितिका कारण थी। पर रत्नावली वाले वर्णनमें रानीने ही प्रधान हिस्सा लिया था, वहाँ राजा और विदूषक उपस्थित थे और अन्तःपुरकी अन्य परिचारिकाएं भी मौजूद थीं। अपनी सबसे सुन्दर परिचारिका सागरिकाको रानीने जानबूझ कर वहांसे दूर हटा दिया था। अशोकके वृक्षके नीचे सुन्दर स्फटिक-विनिर्मित आसनपर रानीने राजाको बैठाया, पास ही दूसरे आसनपर, वसन्तक नामक विदूषक भी बैठ गया। काञ्चनमाला नामक प्रधान परिचारिकाने रानीके सुन्दर कोमल हाथोंमें अबीर कुंकुम चन्दन और पुष्प-सभार दिए। रानीने पहले मदनदेवकी पूजा की और फिर पुष्पांजलि पतिके चरणोंपर बिखेर दी। ब्राह्मण वसन्तकको यथारीति दक्षिणा दी गई। यह सब कार्य सायंकालके आसपास हुए क्योंकि पूजा विधिके समाप्त होते ही वैतालिकोंने सन्ध्याकालीन स्तुति पाठ की और राजाने पूर्वको ओर देखा कि कुंकुम और अबीरमें लिपटे हुए चन्द्रदेव प्राचीदिशाको लाल बनाकर उदयमंच पर आसीन हुए;। इसदिन पूर्णिमा थी।

उस युगकी विलासिनियाँ कण्ठमें कुवलयकी माला और कानोंमें दुष्प्राप्य नव आम्रमंजरी धारण करके मनको उन्मन कर देती थीं :

छणपिट्ठ धूसरत्थणि मुहमअ तम्बच्छि कुवलआहरणे।
कणकअ चूअ मंजरि पुत्ति तुए मंडिओ गामो ॥

—सरस्वती कण्ठाभरण पृ० ५७५

पुराने गर्म कपड़ोंको फेंककर कोई लाक्षारससे या कुंकुमके रंगसे रंजित और सुगन्धित कालागुरुसे सुवासित हल्की लाल साड़ियाँ पहनती थीं, कोई कुसुम्भी दुकूल धारण करती थीं और कोई-कोई कानोंमें नवीन कर्णिकारके फूल, नील अलकों (=केशों) में लाल अशोकके फूल और वक्षःस्थल पर उत्फुल्ल नव-मल्लिकाकी माला धारण करती थीं :

गुरूणि वासांसि विहाय तूर्णं तनूनि लाक्षारस रंजितानि।
सुगन्धिकालागुरुधूपितानि धत्तेजना काममदालसाङ्गी ॥१३॥
कुसुम्भरागारुणितैर्दुकूलैर्नितम्बबिम्बानि विलासिनीनाम्।
रक्तांशुकैः कुंकुमरागगौरैरलंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि ॥४॥
कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकः।
पुष्पं च फुल्लं नवमालिकायाः प्रयाति कान्ति प्रमदाजनस्य ॥५॥

—ऋतुसंहार ६

४१—उद्यान-यात्रा

उन दिनों वसन्त ऋतुकी उद्यानयात्रा और वन-यात्राएं काफी मजेदार होती थीं। कामसूत्र (पृ० ५३) में लिखा है कि निश्चित दिनको दोपहरके पूर्व ही नागरिक गण सजधज कर तैयार हो जाते थे। घोड़ों पर चढ़करके किसी दूरस्थित उद्यान या वनकी ओर—जो एक दिनमें ही लौट आने योग्य

दूरीपर होता था, जाया करते थे। कभी-कभी इनके साथ गणिकाएं भी होती थीं और कभी-कभी अन्तःपुरकी गृहदेवियां होती थीं। इन उद्यान-यात्राओंमें कुक्कुट (मुर्गे) लाव आदि बटेरों और मेष अर्थात् भेड़ोंकी लड़ाइयां हुआ करती थीं। ये युद्ध काफी उत्तेजक होते थे और लड़नेवाले पशु-पक्षी लहू-लुहान हो जाते थे। इनकी नृशंसता देखकर ही शायद सम्राट् अशोकने अपने शिला लेखोंमें इनकी मनाहीका फर्मान जारी किया था तो इन उद्यान-यात्राओं या पिकनिक पार्टियोंमें हिंदोल लीला, समस्या पूर्ति, आख्यायिका, बिंदुमती, आदि प्रहेलिकाओंके खेल होते थे। वसन्तकालीन वनविहारमें कई उल्लेख योग्य खेल यहां दिए जा रहे हैं। क्रीड़ैकशाल्मली या शाल्मली मूलं खेलन नामका विनोद कामसूत्र, भावप्रकाश और सरस्वती कंठाभरण आदि ग्रन्थोंमें दिया हुआ है। ठीक-ठीक यह किस तरहका होता था, कुछ समझमें नहीं आता। पर किसी एक ही फूलसे लदे सेमरके पेड़ तले आंखमिचौनी खेलनेके रूपमें यह रहा होगा। सेमरका पेड़ ही क्यों चुना जाता था, यह समझमें नहीं आता। शायद उन दिनों वसन्तमें लाल कपड़े पहने जाते थे और यह कुसुम-निर्भर (लाल फूलोंसे लदा) पेड़ लूका-चोरी खेलनेका सर्वोत्तम साधन रहा हो। आजकल यह किसी प्रदेशमें किसी रूपमें जी रहा है कि नहीं, नहीं मालूम। यहां यह कह रखना उचित है कि कामसूत्रकी जयमंगला टीकाके अनुसार इस विनोदका प्रचलन विदर्भ या बरार प्रान्तमें अधिक था।

४२—वसन्तके अन्य उत्सव

उदकक्ष्वेडिका भी पुराना विनोद है। यह होलीके दिन अब भी ... जी रहा है, और ऊपर श्री हर्षदेवकी गवाहीसे हमने मदनोत्सवका वर्णन पढ़ा है उसपर से निश्चित रूपसे अनुमान किया जा सकता है कि

आज वह अपने मूल रूपमें ही जीता है। बाँसकी पिचकारियोंमें सुगन्धित जल भरकर युवकगण अपने प्रियजनोंको सराबोर कर देते थे। यही उदक-क्ष्वेडिका कहा जाता था। इसका उल्लेख कामसूत्रमें भी है। और जयमंगला टीकाके अनुसार इस विनोदका प्रचलन मध्य देशमें ही अधिक था। नागरिकाएं जब अनंगदेव (कामदेव) की पूजाके लिये आम्र-मंजरी चुनकर बादमें कानोंमें पहननेको निकलती थीं तो उनके परस्पर हास-विलाससे यह कार्य अत्यन्त सरस हो उठता था। पुरुष कभी अलग और कभी स्त्रियोंके साथ इस चयन-कार्यको करते थे। इसे चूत-भंजिका कहते थे। वसन्त कालमें फूल चुनना उन दिनोंके नागरकों और नागरिकाओंके लिये एक खासा मनोविनोद था। इसे पुष्पावचयिका कहते थे। भोजदेव तो कहते हैं कि सुन्दरियोंकी मुख मदिरासे सिंचने पर जब बकुल फूलता था तब उसीके फूलको चुनकर यह उत्सव मनाया जाता था (सरस्वती कंठाभरण पृ० ५७६)। सखियोंके उपालम्भ वाक्यों और प्रिय-हृदयोंके उल्लसित विलाससे कुसुमावचयका यह उत्सव बहुत ही स्फूर्तिप्रद होता था, क्योंकि कवियोंने जी खोलकर इसका वर्णन किया है। वसन्तकालमें जहाँ प्रकृति अपने आपको निःशेष भावसे उद्बुद्ध कर देती है उसी प्रकार जब मनुष्य भी कर सके तो उत्सव सम्भव है। प्रकृतिने अगर उल्लास प्रकट हो किया किन्तु मनुष्य जड़ीभूत बना रहा तो उत्सव कहां हुआ? दूसरी ओर यदि मनुष्यने अपना हृदय खोलकर फूले हुए वृक्षों और मदिरायित मलय-पवनका आनन्द उपभोग किया तो प्रकृतिकी जो भी अवस्था क्यों न हो वह आनन्ददायक ही होगी। मनुष्य ही प्रधान है, प्रकृतिका उत्सव उसीकी अपेक्षामें होता है। संस्कृत कविने इस महासत्यका अनुभव किया था। भारतवर्षका चित्त जब स्वतन्त्र था, जब वह

उल्लास और विलासका सामंजस्य कर सकता था उन दिनों मनुष्यकी इस प्रधानताका ठीक-ठीक अनुभव कर सका था। फूल तो बहुत खिलते हैं परन्तु पुष्प पल्लवोंसे भरी हुई धरती असलमें वह है जहां मनुष्यके सुन्दर चरणोंका संसर्ग है, जहां उसका मनोभ्रमर दिनरात मंडराया करता है :—

सन्तु द्रुमाः किसलयोत्तरपत्रभाराः
प्राप्ते वसन्तसमये कथमित्थमेव।
न्यासैर्नवद्युतिमतोः पदयोस्तवेयं
भूः पुष्पिता सुतनु पल्लवितेव भाति॥

(सूक्तिसहस्र)

एक और उत्सव है अभ्यूषखादनिका। गेहूं जौ आदि शूक धान्य, तथा चना मटर आदि शमी धान्यके कच्चे पौधोंमें लगी फलियोंको भूनकर अभ्यूष और होलाका नामक खाद्य बनाए जाते थे। नागर लोग इन वस्तुओंको खानेके लिये नगरके बाहर धूमधामके साथ जाया करते थे। आजकल यह उत्सव वसन्तपंचमीके दिन मनाया जाता है।

इस प्रकार वसन्तका सारा ऋतु आनन्द और उल्लासका काल था। वसन्तकी हवा कुसुमित आम्रकी शाखाओंको कँपाती हुई आती थी, कोकिलकी हूकभरी कूक दसों दिशाओंमें फैला देती थी और शीतकालीन जड़िमासे मुक्त मानव चित्तको जबर्दस्ती हरण कर ले जाती थी :—

आकम्पयन् कुसुमिताः सहकारशाखाः
विस्तारयन् परभृतस्य वचांसि दिक्षु।
वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणां
नीहारपातविगमात् सुभगो वसन्ते! (ऋतुसंहार ६-२२)

उस समय पर्वतमालाके अनुपम सौन्दर्यसे लोगोंका चित्त विमोहित हो गया होता था, उसके सानुदेशमें उन्मत्त कोकिल कूक उठते थे, प्रत्यग्र विविध कुसुम गन्धसे महक उठता था शिलापट्ट सुगन्धित शिलाजतुकी गन्धसे महक उठता था और राजा लोग सब देखकर आमोद-विह्वल हो उठते थे :

नानामनोज्ञकुसुमद्रुमभूषितान्तान्
हृष्टान्यपुष्टनिनदाकुलसानुदेशान् ।
शैलेयजालपरिणद्ध शिलातलौघान्
दृष्ट्वा जनः क्षितिभृतो मुदमेति सर्वः ।

(ऋ॰ सं॰ १-२५)

४३—दरबारी लोगोंके मनोविनोद

भित्तियोंमें आकार, उभार आदि मालाएं लगा दी गई थीं और उसपर से पूरे श्लोकका ये उच्चार कर रहे थे, कुछ लोग प्रहेलिका (पहेली) नामक काव्य-भेदका रस ले रहे थे, कोई-कोई राजाके बनाए हुए श्लोकोंकी चर्चा कर रहे थे, कोई-कोई विदग्ध रसिक ऐसे भी थे जो भरी सभामें वार-विलासिनियोंके कण्ठ और कपोल आदिमें तिलक रचना कर रहे थे, कुछ लोग उन रमणियोंके साथ ठठोली कर रहे थे, कुछ लोग बन्दीजनोंसे पुराने प्रतापी राजाओंका गुणगान सुन रहे थे और इस प्रकार अपनी रुचि और सुविधाके अनुसार कालयापन कर रहे थे। राजसभाके बाहर राजाके विशाल प्रासादके एक पार्श्वमें कहीं कुत्ते बंधे थे, कहीं कस्तूरी मृग विचरण कर रहे थे, कहीं कुबड़े, बौने, नपुंसक, गूंगे, बहरे आदमी घूम रहे थे, कहीं किन्नरयुगल और वन-मानुष विहार कर रहे थे, कहीं सिंह व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तुओंके पिंजड़े वर्तमान थे, ये सभी वस्तुएं दरबारियोंके मनोविनोदका साधन थीं। स्पष्ट ही मालूम होता है कि राज दरबारके मुख्य विनोदोंमें काव्यकला सबसे प्रमुख थी। वस्तुतः राजसभामें सात अंगोंका होना परम आवश्यक माना जाता था। ये सात अंग हैं। (१) विद्वान, (२) कवि, (३) भांट, (४) गायक, (५) मसख़रे, (६) इतिहासज्ञ, और (७) पुराणज्ञ—

विद्वांसः कवयो भट्टा गायकाः परिहासकाः
इतिहास पुराणज्ञाः सभा सप्तांग-संयुता

४४——काव्य-शास्त्र-विनोद

प्राचीन भारत काव्य और शास्त्रोंके विनोदका बड़ा रसिक था। राज-सभा, सरस्वती भवन, उद्यान यात्रा, मेले, विवाहोत्सव आदि जन समागमके प्रत्येक अवसर पर काव्य-शास्त्र-विनोदका आयोजन होता था। प्राचीन

भारतके राजा कवि-समाओंका नियमित आयोजन करते थे। हमने इस प्रकारकी राजसभाओंको पहले ही लक्ष्य किया है। इन सभाओंमें कवियोंकी परीक्षा हुआ करती थी। वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक, साहसांक आदि राजाओंने इस विशाल परम्पराको चलाया था और सभी यशोऽभिलाषी भारतीय नरेश इस परम्पराका पोषण करते आए हैं। काव्य-मीमांसामें राजशेखरने लिखा है कि राजा लोग स्वयं भी किस प्रकार भाषा और काव्यकी मर्यादा पर ध्यान देते थे—अपने परिवारमें कई राजाओंने कड़े नियम बनाए थे ताकि भाषागत माधुर्य ह्रास न होने पावे। जैसे—सुना जाता है मगधमें *राजा शिशुनागने यह नियम कर दिया था कि उनके अन्तःपुरमें ट, ठ ड, ढ, ऋ, ष, स, ह, इन आठ वर्णोंका* उच्चारण कोई न करे। शूरसेनके राजा कुविन्दने भी कटु संयुक्त अक्षरके उच्चारणका प्रतिषेध कर दिया था। कुन्तल देशमें राजा सातवाहनकी आज्ञा थी कि उनके अन्तःपुरमें केवल प्राकृत भाषा बोली जाय। उज्जयिनीमें राजा साहसांककी आज्ञा थी कि उनके अन्तःपुरमें केवल संस्कृत बोली जाय।

कवियोंका नाना भावसे सम्मान होता था। समस्याएं दी जाती थीं, और प्रहेलिका बिन्दुमती आदिसे परीक्षा ली जाती थी। कवि लोग भी काफी सावधान हुआ करते थे। कोई उनकी रचना चुरा न ले, सुनकर याद करके अपने नामसे चला न दे इस बातका ध्यान रखते थे। राजशेखरने बताया है कि जब तक काव्य पूरा नहीं हुआ है तब तक दूसरोंके सामने उसे नहीं पढ़ना चाहिए। इसमें यह डर रहता है कि वह आदमी उस काव्यको अपना कहकर ख्यात कर देगा—फिर कौन साक्षी दे सकेगा कि किसकी रचना है? सम्मानेच्छु कवियोंमें परस्पर प्रतिस्पर्धा भी खूब हुआ करती थी।

विन्दुओंमें आकार, इकार आदि मात्राएं लगा दी गई
श्लोकका वे उद्धार कर रहे थे, कुछ लोग प्रहेलिका
भेदका रस ले रहे थे, कोई-कोई राजाके बनाए हुए
थे, कोई-कोई विदग्ध रसिक ऐसे भी थे जो भरो
कण्ठ और कपोल आदिमें तिलक रचना कर रहे
साथ ठठोली कर रहे थे, कुछ लोग वन्दीजनों
गुणगान सुन रहे थे और इस प्रकार अपनी
कालयापन कर रहे थे। राजसभाके बाह
पार्श्वमें कहीं कुत्ते बंधे थे, कहीं कस्तूरी
बौने, नपुंसक, गूंगे, बहरे आदमी घू
मानुष विहार कर रहे थे, कहीं सिं
वर्तमान थे, ये सभी वस्तुएं द
ही मालूम होता है कि राज द
थी। वस्तुतः राजसभामें सात
ये सात अंग हैं। (१) f
(५) मसखरे,

नाहूतापि पुरः पदं रचयति प्राप्तोपकण्ठं हठात्
पृष्टा न प्रतिपक्ति कम्पमयते स्तंभं समालम्बते ।
वैवर्ण्यं स्वरभंगमञ्चति बलान्मंदाक्षमंदानना
कष्टं भोः प्रतिभावतोऽप्यभिसमं वाणी नवोढायते ॥

कभी-कभी परस्परकी प्रतिस्पर्द्धासे कवियोंकी असाधारण मेधाशक्ति, हाजिरजवाबी और औदार्यका पता चलता है । कहानी प्रसिद्ध है कि नैषधकार श्री हर्षकविके वंशधर हरिहर नामक कवि गुजरातके राजा वीरधवलके दरबारमें आए । सभामें स्वयं उपस्थित न होकर उन्होंने अपने एक विद्यार्थीको भेजा और राजा वीरधवल मन्त्री वस्तुपाल तथा राजकवि सोमेश्वरके नाम अलग-अलग आशीर्वाद भेजे । राजा और मन्त्रीने प्रीतिपूर्वक आशीर्वाद स्वीकार किया पर कवि सोमेश्वर ईर्ष्यासे मन ही मन ऐसा जले कि उस विद्यार्थीसे बात तक नहीं की । हरिहर कविने यह बात गाँठ बांध ली । दूसरे दिन कविके सम्मानके लिये राजसभाकी आयोजना हुई, सब आए, सोमेश्वर नहीं आए । उन्होंने कोई बहाना बना लिया । कुछ दिन इसी प्रकार बीत गए । हरिहर पंडितका सम्मान बढ़ता गया । एक दूसरे अवसर पर राजाने हरिहर पंडितसे कहा कि पंडित, मैंने इस नगरमें वीरनारायण नामक प्रासाद बनवाया है, उसपर प्रशस्ति खुदवानेके लिये मैंने सोमेश्वर पंडितसे १०८ श्लोक बनवाए हैं, तुम भी देख लो कैसे हैं । पंडितने कहा सुनवाइए । राजाज्ञासे सोमेश्वर पंडित श्लोक सुनाने लगे । हरिहर पंडितने सुननेके बाद काव्यकी बड़ी प्रशंसा की और बोले कि महाराज, काव्य हो तो ऐसा ही हो । महाराज भोजके सरस्वतीकंठाभरण नामक प्रासादके गर्भ-गृहमें ये श्लोक खुदे हुए हैं । मुझे भी याद हैं । सुनिए । इतना कहकर पंडितने सभी श्लोक पढ़कर सुना

नाना भावसे एक दूसरेको परास्त करनेका जो प्रयत्न होता था उसकी कई
मनोरंजक कहानियाँ पुराने ग्रन्थोंमें मिल जाती हैं। इस राजसभामें काव्य
पाठ करना सामान्य बात नहीं थी। चिन्तासक्त मन्त्रियोंकी गम्भीर मूर्ति,
सब कुछ करनेके लिये प्रतिक्षण तत्पर दूतोंकी कठोर मुखमुद्रा, प्रान्त भागमें
खुफिया विभागके धूर्त मनुष्य बहुतर ऐश्वर्यशालियोंके हाथी घोड़े लावलश्कर-
की अभिभूत कर देनेवाली उपस्थिति, कायस्थोंकी कुटिल भ्रुकुटियां और
नई-नई कूटनीतिक चिन्ताओंका सर्वत्र विस्तार मामुली साहस वाले कविको
त्रस्त शकित बना देती थी। एक कविने तो राजाके सामने ही इस राज-
सभाको हिंस्र जन्तुओंसे भरे समुद्रके समान कहकर अपना चित्त विक्षोभ
हल्का किया था—

चिन्तासक्तनिमग्न मंत्रि-सलिलं दूतोर्मिशंखाकुलम्,
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम्।
नाना वाशककंकपक्षिरुचिरं कायस्थसर्पास्पदम्,
नीतिक्ष्पणतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते॥

नया कवि इस राजसभामें बड़ी कठिनाईमें पड़ जाता था। एक कविने
राजसभामें प्रथम बार आए हुए संभ्रमसे अभिभूत कविकी वाणीको नवविवा-
हिता वधूसे उपमा दी है। बिना बुलाए भी वह आना चाहती है, गलेसे
उलझकर रह जाती है, पूछनेपर भी बोलती नहीं, कांपती है, स्तम्भित हो
रहती है, अचानक फीकी पड़ जाती है, गला रुंध जाता है, आंख और
मुंहकी रोशनी धीमी पड़ जाती है। कवि बड़े अफसोसके साथ
अनुभव करता है कि यह वाणी है या नवोढ़ा बहू है—दोनोंमें इतनी
समानता है!

नाहूतापि पुरः पदं रचयति प्राप्तोपकण्ठं हठात्
पृष्टा न प्रतिवक्ति कम्पमयते स्तंभं समालम्बते ।
वैवर्ण्यं स्वरभंगमञ्चति बलान्मंदाक्षमंदानना
कष्टं भोः प्रतिभावतोऽप्यभिसभं वाणी नवोढायते ॥

कभी-कभी परस्परकी प्रतिस्पर्द्धासे कवियोंकी असाधारण मेघाशक्ति, हाजिरजवाबी और औदार्यका पता चलता है । कहानी प्रसिद्ध है कि नैषधकार श्री हर्षकविके वंशधर हरिहर नामक कवि गुजरातके राजा वीरधवलके दरबारमें आए । सभामें स्वयं उपस्थित न होकर उन्होंने अपने एक विद्यार्थीको भेजा और राजा वीरधवल मन्त्री वस्तुपाल तथा राजकवि सोमेश्वरके नाम अलग-अलग आशीर्वाद भेजे । राजा और मन्त्रीने प्रीतिपूर्वक आशीर्वाद स्वीकार किया पर कवि सोमेश्वर ईर्ष्यासे मन ही मन ऐसा जले कि उस विद्यार्थीसे बात तक नहीं की । हरिहर कविने यह बात गांठ बांध ली । दूसरे दिन कविके सम्मानके लिये राजसभाकी आयोजना हुई, सब आए, सोमेश्वर नहीं आए । उन्होंने कोई बहाना बना लिया । कुछ दिन इसी प्रकार बीत गए । हरिहर पंडितका सम्मान बढ़ता गया । एक दूसरे अवसर पर राजाने हरिहर पंडितसे कहा कि पंडित, मैंने इस नगरमें वीरनारायण नामक प्रासाद बनवाया है, उसपर प्रशस्ति खुदवानेके लिये मैंने सोमेश्वर पंडितसे १०८ श्लोक बनवाए हैं, तुम भी देख लो कैसे हैं । पंडितने कहा सुनवाइए । राजाज्ञासे सोमेश्वर पंडित श्लोक सुनाने लगे । हरिहर पंडितने सुननेके बाद काव्यकी बड़ी प्रशंसा की और बोले कि महाराज, काव्य हो तो ऐसा ही हो । महाराज भोजके सरस्वतीकंठाभरण नामक प्रासादके गर्भ-गृहमें ये श्लोक खुदे हुए हैं । मुझे भी याद हैं । सुनिए । इतना कहकर पंडितने सभी श्लोक पढ़कर सुना

दिए। सोमेश्वरका मुंह पीला पड़ गया। राजा और मन्त्री सभीने उन्हें चोर-कवि समझा। ऊपरसे किसीने कुछ कहा नहीं परन्तु उनका सम्मान जाता रहा। सोमेश्वर हैरान थे। क्योंकि श्लोक वस्तुतः उनके ही बनाए हुए थे मन्त्री वस्तुपाल—जो उन दिनों लघु भोजराज नामसे ख्यात थे—के पास जाकर गिड़गिड़ाकर बोले कि श्लोक मेरे ही हैं। मन्त्रीने कहा कि हरिहर पंडितकी शरण जाओ तभी तुम्हारी मान-रक्षा हो सकती है। अन्तमें सोमेश्वरने वही किया। शरणागतकी मान-रक्षाका भार कवि हरिहरने अपने ऊपर ले लिया। दूसरे दिन राजसभामें हरिहर कविने बताया कि सरस्वतीने उन्हें वर दिया है कि एक सौ आठ श्लोक तक वे एक बार सुनकर ही याद कर ले सकते हैं और सोमेश्वरको अपदस्थ करनेके लिये ही उस दिन उन्होंने एक सौ आठ श्लोक सुना दिए थे। वस्तुतः वे सोमेश्वरके ही श्लोक थे। राजाको असली वृत्तान्त मालूम हुआ तो आश्चर्य चकित रह गए और दोनों कवियोंको गले मिलवाकर दोनोंमें प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कराया (प्रवन्ध कोश १२)।

मन्त्री वस्तुपालकी सभामें इन हरिहर पण्डितका बड़ा सम्मान था। वहां मदन नामके एक दूसरे कवि भी थे। हरिहर और मदनमें बड़ी लाग डाँट थी। सभामें यदि दोनों कवि जुट गए तो कलह निश्चित था। इसीलिये मन्त्रीने द्वारपालसे हिदायत कर दी थी कि एकके रहते दूसरा सभामें न आने पावे। एक दिन द्वारपालकी असावधानीसे यह दुर्घटना हो ही गई। हरिहर कवि अपना काव्य सुना रहे थे कि मदन पहुंचे। आते ही डाँटा, ऐ हरिहर घमंड छोड़ो, बढ़कर बातें मत करो। कविराज रूपी मत्त गजराजोंका अंकुश मदन आ गया हूं!—

हरिहर परिहर गर्वं कविराज गजांकुशो मदनः।

हरिहरने तड़ाकसे जवाब दिया—मदन, मुंह बन्द करो हरिहरका चरित मदनकी पहुंचके बाहर है—

मदन विमुद्रय वदनं हरिहर चरितं स्मरातीतं ।

मन्त्रीने देखा बात बढ़ रही है। बीचमें टोक करके बोले—भई, झगड़ा बन्द करो। इस नारीकेलको लक्ष्य करके सौ सौ श्लोक बनाओ। जो आगे बना देगा उसकी जीत होगी। मदन और हरिहर दोनों ही काव्य बनानेमें उलझ गए। मदनने जब तक सौ पूरे किए तब तक हरिहर ६० ही में रहे। मन्त्रीने कहा, 'हरिहर पण्डित तुम हारे।' हरिहरने तपाकसे कहा—'हारे कैसे !' और झटसे एक कविता पढ़कर सुनाई – अरे गवार जुलाहे, क्या गवार औरतोंके पहननेके लिये सैकड़ों घटिया किस्मके कपड़े बुनकर अपनेको परेशान कर रहा है ? भले आदमी, कोई एक हो ऐसी साड़ी क्यों नहीं बनाता जिसे क्षण भरके लिये भी राजमहिषियां अपने वक्षःस्थलसे हटाना गवारा न करें—

रे रे ग्रामकुविन्द कन्दलतया वस्त्राण्यमूनि त्वया
गोणीविभ्रमभाजनानि बहुशः स्वात्मा किमायास्यते ।
अप्येकं रुचिरं चिरादभिनव वासस्तदासूत्र्यतां
यन्नोज्झन्ति कुचस्थलात् क्षणमपि क्षोणीभृतां वल्लभाः ।

मन्त्रीने प्रसन्न होकर दोनों कवियोंका पर्याप्त सम्मान किया।

राजसभामें शास्त्र-चर्चा भी होती थी। नाना शास्त्रोंके जानकार पंडित तर्क युद्धमें उतरते थे। जीतनेवालेका सम्मान यहां तक होता था कि कभी राजा पालकीमें अपना कन्धा लगा देते थे। प्राचीन ग्रन्थोंमें 'ब्रह्मरथयान' और पट्टबन्ध नामक सम्मानोंके उल्लेख हैं। जो पण्डित सभामें विजयी

होता था उसके रथको जब राजा स्वय खींचते थे तो उसे 'ब्रह्मरथ यान' कहते थे और जब राजा स्वयं सुवर्णपट्ट पण्डितके मस्तकपर बांध देते थे तो उसे 'पट्टबन्ध' कहा जाता था। पाटलिपुत्रमें उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि और पतंजलिका ऐसा ही सम्मान हुआ था और उज्जयिनीमें कालिदास, मेंठ, अमर, सूर, भारवि, हरिश्चन्द्र और चन्द्रगुप्तका ऐसा सम्मान हुआ था।

राजसभाओंमें विजयी होना जितने गौरवकी बात थी पराजित होना उतने ही अगौरव और निन्दा की। अनुश्रुतियोंमें पराजित पण्डितोंके आत्म-घात तक कर लेनेकी बातें सुनी जाती हैं। जयन्तचन्द्र राजाके राज पण्डित हरि कवि राज सभामें हारकर मरे थे ऐसा प्रसिद्ध है। इसी पण्डितके पुत्र प्रसिद्ध श्रीहर्ष कवि हुए जिन्होंने पिताके अपमानका बदला चुकाया था। बहुत थोड़ी उमरमें ही वे विद्या पढ़कर राजसभामें उपस्थित हुए थे। जब राजाकी स्तुति उन्होंने उत्तम काव्योंसे की तो उनके पिताको पराजित करने वाले पण्डितने उन्हें 'कोमल बुद्धिका कवि' कहकर तिरस्कार किया। श्रीहर्षकी भवें तन गईं, कड़क कर उन्होंने जवाब दिया—चाहे साहित्य जैसी सुकुमार वस्तु हो या न्याय शास्त्रकी गांठ वाला तर्क शास्त्र, दोनों ही क्षेत्रोंमें वाणी मेरे साथ समान रूपसे विहार करती है। यदि पति हृदयंगम हो तो, चाहे मुलायम गद्दा हो चाहे कुशों और कांटोंसे आकीर्ण बनभूमि, स्त्रीकी समान प्रीति ही प्राप्त होती है—

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढ़न्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरावृता
भूमिर्वा हृदयंगमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम्॥

और उक्त पंडितको किसी भी शास्त्रके तर्क-युद्धमें उतरनेके लिये ललकारा। उक्त पण्डितको पराजित करके कविने अशेष कीर्ति प्राप्त की।

४५—विद्वत्सभा

पण्डितोंकी सभामें किसी सीधे सादे व्यक्तिको बैठाकर उसे मूर्ख बनाकर रस लेनेकी जो मनोवृत्ति सर्वत्र पाई जाती है उसका भी परिचय प्राचीन ग्रन्थोंसे हो जाता है। प्रसिद्ध बौद्ध साधक भुसुकपादको इसी प्रकार मूर्ख बनानेका प्रयत्न किया गया था। वह मनोरंजक कहानी इस प्रकार है :

नालन्दाके विश्वविद्यालयमें एक गावदी जैसा आदमी आया और नालन्दाके एक प्रान्तमें उसने एक झोंपड़ी बनाई और वहीं बास करने लगा। वह त्रिपिटककी व्याख्या सुनता और साधना करता। वह हमेशः शान्त भावसे रहता था, इसलिये लोग उसे शान्तिदेव कहने लगे। नालन्दाके संघमें एक और नाम भुसुकुसे वह विख्यात हुआ। इसका कारण यह था, कि "भुञ्जानोऽपि प्रभास्वरः सुप्तोपि कुटीम् गतोऽपि तदेवेति भुसुकुसमाधि समापन्नत्वात् भुसुकु नाम ख्यातिं संघेऽपि" अर्थात् भोजनके समय उसकी मूर्ति उज्ज्वल रहती, सोनेके समय उज्ज्वल रहती और कुटीमें बैठे रहने पर भी उज्ज्वल रहती।

इस प्रकारसे बहुत दिन बीत गए। शान्तिदेव किसीके साथ बहुत बात नहीं करते, अपने मनसे अपना काम करते जाते लेकिन लड़कोंने उनके साथ दुष्टता करना शुरू कर दिया। बहुत लोगोंके मनमें हुआ कि वे कुछ जानते नहीं अतएव किसी दिन उन्हें अप्रतिभ करनेकी बात उन लोगोंने सोची। नालन्दामें नियम था कि ज्येष्ठ मासकी शुक्लाष्टमीको पाठ और व्याख्या होती

थी। नालन्दाके बड़े विहारके उत्तर पूर्वके कोनेमें एक बहुत बड़ी धर्मशाला थी। पाठ और व्याख्याके लिये उसी धर्मशालेको सजाया जाता था। सभी पण्डित वहीं जुटते और अनेकों श्रोता सुननेके लिये आते। जब सभा जुड़ गई, पण्डित लोग आ गए और सब कुछ तैयार हो गया तब लड़कोंने ज़िद् पकड़ी कि शांतिदेव आज तुम्हें ही पाठ और व्याख्या करनी होगी। शान्तिदेव जितना ही इन्कार करते उतना ही लड़के और ज़िद् पकड़ते और अन्तमें उन्हें पकड़कर उन लोगोंने वेदीपर बैठा ही दिया। उन लोगोंने सोचा कि ये एक भी बात नहीं बोल सकेंगे तब हम लोग हंसेंगे और ताली बजाएंगे। शान्तिदेव गम्भीर भावसे बैठकर बोले, "किम् आर्षं पठामि अर्थार्षंवा"। सुनकर पण्डित लोग स्तब्ध रह गए। वे लोग आर्ष सुने हुए थे अर्थार्ष नहीं। उन लोगोंने कहा, कि इन दोनोंमें भेद क्या है? शान्तिदेव बोले,— परमार्थ ज्ञानीको ऋषि कहते हैं। वे ही बुद्ध और जिन हैं। वे लोग जो कुछ कहते हैं वही आर्षवचन है। प्रश्न हो सकता है कि सुभूति आदि आचार्योंने अपने शिष्योंको उपदेश देनेके लिये जो ग्रन्थ लिखे हैं उन्हें आर्ष कैसे कहा जा सकता है? इसके उत्तरमें युवराज आर्य मैत्रेयका वह वचन उद्धृत किया जा सकता है जिसमें कहा गया है कि आर्ष वचन वस्तुतः उसे ही कहा जायगा जो सुन्दर अर्थसे युक्त हो, धर्म-भावसे अनुप्राणित हो, त्रिधातु-संक्लेशका उपशमन करनेवाला हो, तृष्णाका उच्छेद करनेवाला हो और प्राणीमात्रकी कल्याण बुद्धिसे प्रेरित हो। ऐसे ही वचनको आर्ष कहा जायगा और इसके विपरीत जो है वही अनार्ष है। आर्ष और अनार्षकी यही व्याख्या पारमार्थिक है, अन्य व्याख्याएं ठीक नहीं हैं। आर्ष मैत्रेयका

यदर्थवद् धर्मपदोपसंहितं त्रिधातुसंक्लेश-निबर्हणं वचः ।
भवे भवेच्छान्तमनुशंसदर्शकं तद्वत्क्रमार्षं विपरीतमन्यथा ॥

ऐसे ही आर्ष ग्रन्थोंसे अर्थ लेकर अन्य पण्डितोंने जो ग्रन्थ लिखे हैं वे अर्थार्ष कहलाते हैं। अर्थार्ष ग्रन्थोंके मूल आर्ष ग्रन्थ हैं। अतएव आर्ष ग्रन्थसे पण्डित लोगोंने जो कुछ सीखकर संग्रह किया है वही अर्थार्ष है और सुभूति आदि आचार्योंके जो उपदेश हैं वे आर्ष हैं क्योंकि उसके अधिष्ठाता भगवान् हैं। *पण्डित लोगोंने कहा,—हम लोगोंने आर्ष बहुत सुना है, तुमसे कुछ अर्थार्ष सुनेंगे।*

इसके पूर्व ही शान्तिदेव बोधिचर्यावतार, शिक्षा-समुच्चय और सूत्र-समुच्चय नामके तीन अर्थार्ष ग्रन्थ लिख चुके थे। कुछ देर तक ध्यान करनेके बाद वे बोधिचर्यावतारका पाठ करने लगे। शुरूसे ही पाठ आरम्भ हुआ। बोधिचर्याकी भाषा बड़ी ललित है मानो वीणाके स्वरमें बंधी हो, भाव अत्यन्त गम्भीर, संक्षिप्त और मधुर है। पण्डित लोग स्तब्ध होकर सुनने लगे। लड़कोंने सोचा था कि इस आदमीको हँसीमें उड़ा देंगे, लेकिन वे भक्तिसे आप्लुत हो उठे। क्रमसे जब पाठ जमने लगा, महायानके गूढ़तत्त्वोंकी व्याख्या होने लगी और जब शान्तिदेव मधुर स्वरसे—

यदा न भावो नाभावो मतेः सन्तिष्ठते पुरः।
तदान्यगत्यभावेन निरालम्बः प्रशाम्यति ॥

इस श्लोककी व्याख्या कर रहे थे, हठात् स्वर्गका द्वार खुल गया और श्वेत वर्णके विमान पर चढ़कर, शरीरकी कान्तिसे दिगन्तको आलोकित करते हुए मञ्जुश्री उतरने लगे। व्याख्या खत्म होनेपर वे शान्तिदेवको गाढ़ आलिंगनमें बांधकर विमान पर चढ़ाकर स्वर्ग ले गए। दूसरे दिन पण्डित

लोग उनकी कुटीमें गए और बोधिचर्यावतार, शिक्षा-समुच्चय और सूत्र-समुच्चय ये तीन पोथियां उन्हें मिलीं और उन लोगोंने उनका प्रचार कर दिया। इन तीनोंमें दो ही प्राप्य हैं, केवल सूत्र-समुच्चयका पता नहीं लग रहा है। जो दो पोथियां मिली हैं ये छापी भी गई हैं (हरप्रसाद शास्त्री : बौ० गा० दो०)।

४६—कथा-आख्यायिका

राजसभामें कथा-आख्यायिकाका कहनेवाला काफी सम्मान पाता था। संस्कृतमें कथाका साहित्य बहुत विशाल है। विद्वानोंका अनुमान है कि संसार भरमें भारतीय कथाएं फैली हुई हैं। जो कथा सम्मान दिलाती थी वह जैसे-तैसे नहीं सुनाई जाती थी। केवल घटनाओंको प्राचीन भारतीय बहुत महत्व नहीं देते थे। घटनाओंको उपलक्ष्य करके कवि श्लेषोंकी झड़ी बांध देगा, विरोधाभासोंका ठाट कर देगा, श्लेष-परिपुष्ट उपमाओंका जंगल लगा देगा, तब जाकर कहेगा कि यह अमुक घटना है। वह किसी भी ऐसे अवसरकी उपेक्षा नही करेगा जहां उसे एक उत्प्रेक्षा या दीपक या रूपक या विरोधाभास या श्लेष करनेका अवसर मिल जाय। प्रसिद्ध कथाकार सुबंधुने तो ग्रन्थके आरम्भमें प्रतिज्ञा ही कर ली थी कि आदिसे अन्त तक श्लेषका निर्वाह करेंगे। पुराने कथाकारोंमें सबसे श्रेष्ठ बाणभट्ट हैं। इन्होंने कथाकी प्रशंसा करते हुए मानों अपनी ही रचनाके लिये कहा था कि सुस्पष्ट मधुरालापसे और हावभावसे नितान्त मनोहरा तथा अनुराग वश स्वयमेव शय्यापर उपस्थित अभिनवा बधूके समान सुगम कलाविद्या सम्बन्धी वाक्य विन्यासके कारण सुश्राव्य और रसके अनुकरणके कारण बिना प्रयास शब्द गुम्फको प्राप्त करने वाली कथा किसके हृदयमें कौतुकायुक्त प्रेम नहीं उत्पन्न करती?

सहजबोध्य दीपक और उपमा अलंकारसे सम्पन्न अपूर्व पदार्थके समावेशसे विर-
चित और अनवरत श्लेषालङ्कारसे किंचित् दुर्बोध्य कथा-काव्य, उज्ज्वल प्रदीपके
समान उपादेय चम्पक-पुष्पकी कलीसे गुंथे हुए और बीच-बीचमें चमेलीके
पुष्पोंसे अलङ्कृत घन-सन्निविष्ट मोहनमालाकी भांति किसे आकृष्ट नहीं करता?—

सच पूछा जाय तो बाणभट्टने इन पंक्तियोंमें कथा-काव्यका ठीक-ठीक
लक्षण दिया है। कथा कलालाप-विलाससे कोमल होगी, कृत्रिम पद-संघट्टना
और अलंकारप्रियताके कारण नहीं बल्कि बिना प्रयासके रसके अनुकूल गुम्फ
वाली होगी, उज्ज्वल दीपक और उपमाओंसे सुसज्जित रहेगी और निरन्तर
श्लेष अलंकारके आते रहनेके कारण जरा दुर्बोध्य भी होगी—परन्तु सारी
बातें रसकी अनुवर्तिनी होंगी। अर्थात् संस्कृतके आलङ्कारिक जिस रसको
काव्यका आत्मा कहते हैं, जो अंगी है, वही कथा और आख्यायिकाका भी
प्राण है। काव्यमें कहानी गौण है, पदसंघट्टना भी गौण है, मुख्य है केवल
रस। यह रस अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, शब्दसे वह अप्रकाश्य है।
उसे केवल व्यंग्य या ध्वनित किया जा सकता है। इस बातमें काव्य और
कथा-आख्यायिका समान हैं। विशेषता यह है कि कथा-आख्यायिकामें इस
रसके अनुकूल कहानी, अलङ्कार-योजना और पद-संघट्टना सभी महत्त्वपूर्ण
हैं, किसीकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। एक पद्यके बन्धनसे मुक्त होनेके
कारण ही गद्य-कवि की जवाबदेही बढ़ जाती है। वह अलंकारोंकी और
पद-संघट्टना की उपेक्षा नहीं करता। कहानी तो उसका प्रधान वक्तव्य ही
है। कहानीके रसको अनुकूल रखकर इन शर्तोंका पालन करना सचमुच कठिन
है और इसीलिये संस्कृतके आलोचकने गद्यको कवित्वकी कसौटी कहा है—
'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'।

लोग उनकी कुटीमें गए और बोधिचर्यावतार, शिक्षा-समुच्चय और सूत्र-समुच्चय ये तीन पोथियां उन्हें मिलीं और उन लोगोंने उनका प्रचार कर दिया। इन तीनोंमें दो ही प्राप्य हैं, केवल सूत्र-समुच्चयका पता नहीं लग रहा है। जो दो पोथियां मिली हैं ये छापी भी गई हैं (हरप्रसाद शास्त्री : बौ० गा० दो०)।

४६—कथा-आख्यायिका

राजसभामें कथा-आख्यायिकाका कहनेवाला काफी सम्मान पाता था। संस्कृतमें कथाका साहित्य बहुत विशाल है। विद्वानोंका अनुमान है कि संसार भरमें भारतीय कथाएं फैली हुई हैं। जो कथा सम्मान दिलाती थी वह जैसे-तैसे नहीं सुनाई जाती थी। केवल घटनाओंको प्राचीन भारतीय बहुत महत्व नहीं देते थे। घटनाओंको उपलक्ष्य करके कवि श्लेषोंकी झड़ी बांध देगा, विरोधाभासोंका ठाट कर देगा, श्लेष-परिपुष्ट उपमाओंका जंगल लगा देगा, तब जाकर कहेगा कि यह अमुक घटना है। वह किसी भी ऐसे [illegible] सरकी उपेक्षा नही करेगा जहां उसे एक उत्प्रेक्षा या दीपक या [illegible] विरोधाभास या श्लेष करनेका अवसर मिल जाय। प्रसिद्ध कथाकार [illegible] तो ग्रन्थके आरम्भमें प्रतिज्ञा ही कर ली थी कि आदिसे अन्त [illegible] निर्वाह करेंगे। पुराने कथाकारोंमें सबसे श्रेष्ठ बाणभट्ट हैं। [illegible] प्रशंसा करते हुए मानों अपनी ही रचन[illegible] लापसे और हावभावसे नितान्त [illegible] उपस्थित अभिनवा वधूके [illegible] कारण सुश्राव्य और रस[illegible] करने वाली कथा

कारोंके कारण लज्जित हुए और यह प्रतिज्ञा कर बैठे कि जब तक संस्कृत धारावाहिक रूपसे लिखने-बोलने नहीं लगेंगे तब तक बाहर मुंह नहीं दिखाएंगे। राज-काज बन्द हो गया। गुणाढ्य पण्डित बुलाए गए। उन्होंने ६ वर्षमें संस्कृत सिखा देनेकी प्रतिज्ञा की पर एक अन्य पण्डितने ६ महीनेमें ही इस असाध्य साधनका संकल्प किया। गुणाढ्यने इसपर प्रतिज्ञा की कि यदि कोई ६ महीनेमें संस्कृत सिखा देगा तो वे संस्कृतमें लिखना-बोलना ही बन्द कर देंगे। ६ महीने बाद राजा तो सचमुच ही धारावाहिक रूपसे संस्कृत बोलने लगे, पर गुणाढ्यको मौन होकर नगरसे बाहर चला जाना पड़ा। उनके दो शिष्य उनके साथ ही लिए। वहीं किसी शापग्रस्त पिशाच-योनि-प्राप्त गन्धर्वसे कहानी सुनकर गुणाढ्य पण्डितने इस विशाल ग्रन्थको पैशाची भाषामें लिखा। कागजका काम सूखे चमड़ोंसे और स्याहीका काम रक्तसे लिया गया। पिशाचोंकी बस्तीमें और मिल ही क्या सकता था। कथा सम्पूर्ण करके गुणाढ्य अपने शिष्यों सहित राजधानीको लौट आए। स्वयं नगरके उपान्त भागमें ठहरे और शिष्योंसे ग्रन्थ राजाके पास स्वीकारार्थ भिजवा दिया। राजाने अवहेलना पूर्वक इस मौनोन्मत्त लेखक द्वारा रक्तसे चमड़े पर लिखे हुए पैशाची ग्रन्थका तिरस्कार किया। राजाने कहा कि भला ऐसे ग्रन्थके वक्तव्य वस्तुमें विचार योग्य हो ही क्या सकता है।

> पैशाची वाग् मषी रक्तं मौनोन्मत्तश्च लेखकः।
> इति राजाऽब्रवीत् का वा वस्तुसारविचारणा॥
>
> (बृहत्कथा मंजरी १।८७)

शिष्योंसे यह समाचार सुनकर गुणाढ्य बड़े व्यथित हुए। चितामें ग्रन्थको फेंकने ही जा रहे थे कि शिष्योंने फिर एकबार सुननेका आग्रह किया। आग जला दी गई, पण्डित आसन बांधकर बैठ गए। एक-एक पन्ना पढ़कर सुनाया जाने लगा और समाप्त होते ही आगमें डाल दिया जाने लगा। कथा इतनी मधुर और इतनी मनोरंजक थी कि पशु-पक्षी मृग व्याघ्र आदि सभी खाना-पीना छोड़कर तन्मय भावसे सुनने लगे। उनके मांस सूख गए। जब राजाकी रंधनशालामें ऐसे ही पशुओंका मांस पहुंचा तो शुष्क मांसके भक्षणसे राजाके पेटमें दर्द हुआ। वैद्यने नाड़ी देखकर रोगका निदान किया। कसाइयोंसे कैफियत तलब की गई और इस प्रकार अज्ञात पण्डितके कथावाचनकी मनोहारिता राजाके कानों तक पहुंची। राजा आश्चर्य चकित होकर स्वयं उपस्थित हुए लेकिन तब तक ग्रन्थके सात भागोंमें से छः जल चुके थे। राजा पण्डितके पैरोंपर गिरकर सिर्फ एक ही भाग बचा सके। उस भागकी कथा हमारे पास मूल रूपमें तो नहीं पर संस्कृत अनुवादके रूपमें अब भी उपलब्ध है।

बुद्धस्वामीके बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, क्षेमेंद्रकी बृहत्कथामंजरी और सोमदेवके कथासरित्सागरमें बृहत्कथा (या वस्तुतः 'वड्डकहा', क्योंकि यही उसका मूल नाम था) के उस अवशिष्ट अंशकी कहानियां संगृहीत हैं। इनमें पहला ग्रन्थ नेपाल और बाकी काश्मीरके पण्डितोंकी रचना है। पण्डितोंमें गुणाढ्यके विषयमें कई प्रश्नोंको लेकर काफी मतभेद रहा है। पहली बात है कि गुणाढ्य कहांके रहने वाले थे। काश्मीरी कथाओंके अनुसार वे प्रतिष्ठानमें उत्पन्न हुए थे और नेपाली कथाके अनुसार कौशाम्बीमें। फिर कालको लेकर भी मतभेद है। कुछ लोग सातवाहनको और उनके साथ ही

गुणाढ्यको सन् ईसवीके पूर्वकी पहली शताब्दीमें रखते हैं और कुछ बहुत बादमें। दुर्भाग्य वश यह काल सम्बन्धी झगड़ा भारतवर्षके सभी प्राचीन आचार्योंके साथ अविच्छेद्य रूपसे सम्बद्ध है। हमारे साहित्यालोचकोंका अधिकांश श्रम इन काल निर्णय सम्बन्धी कसरतोंमें ही चला जाता है। ग्रन्थके मूल वक्तव्य तक पहुँचनेके पहले सर्वत्र एक तर्कका दुस्तर फेनिल समुद्र पार करना पड़ता है। एक तीसरा प्रश्न भी बृहत्कथाके सम्बन्धमें उठता है। वह यह कि पैशाची किस प्रदेशकी भाषा है। इधर ग्रियर्सन जैसे भाषा-विशेषज्ञने अपना यह फैसला सुना दिया है कि पैशाची भारतवर्षके उत्तर-पश्चिम सीमान्तकी बर्बर जातियोंकी भाषा थी। वे कच्चा मांस खाते थे इसीलिये इन्हें पिशाश या पिशाच कहा जाता था। गुणाढ्यकी पुस्तकोंके सभी संस्कृत संस्करण काश्मीरमें (सिर्फ एक नेपालमें) पाए जाते हैं इसपर से ग्रियर्सनका तर्क प्रबल ही होता है।

४८—कथाकाव्यका मनोहर वायुमण्डल

कथाकाव्यका वायुमण्डल अत्यन्त मनोहर है। वह अद्भुत मोहक लोक है, इस दुनियामें वह दुर्लभ है। वहां प्रभात होते ही पद्म-मधुसे रंगे हुए वृद्ध कलहंसकी भांति चन्द्रमा आकाश गंगाके पुलिनसे उदाससे होकर पश्चिम जलधिके तटपर उतर आते थे, दिङ्मण्डल वृद्ध रंकु मृगकी रोमराजिके समान पाण्डुर हो उठता था, हाथीके रक्तसे रंजित सिंहके सटाभारके समान या लोहितवर्ण लाक्षारसके सूत्रके समान सूर्यकी किरणें, आकाशरूपी वनभूमिसे नक्षत्रोंके फूलोंको इस प्रकार झाड़ देती थीं मानों वे पद्मराग मणिकी शला-कोंकी बनी हुई झाड़ू हों, उत्तर ओर अवस्थित सप्तर्षि मण्डल सन्ध्योपासनके

लिये मानसरोवरके तटपर उतर जाता था, पश्चिम समुद्रके तीरपर सीपियोंके उन्मुक्त मुखसे बिखरे हुए मुक्तापटल चमकने लगते थे, मोर जाग पड़ते थे, सिंह जमुहाई लेने लगते थे, करेणुबालाएं मदस्रावी प्रियतम गजोंको जगाने लगती थीं, वृक्षगण पल्लवांजलिसे भगवान् सूर्यको शिशिर-सिक्त कुसुमांजलि समर्पण करने लगते थे, वनदेवताओंकी अट्टालिकाओंके समान उन्नत वृक्षोंकी चोटी पर गर्दभ-लोमसा धूसर अग्निहोत्रका धूम इस प्रकार सट जाता था मानों कर्बुर वर्णके कपोतोंकी पंक्ति हो; शिशिर बिन्दुको वहन करके, पद्मवनको प्रकम्पित करके, परिश्रान्त शबर-रमणियोंके घर्मबिन्दुको विलुप्त करके, वन्य महिषके फेनबिन्दुसे सिंचके, कम्पित पल्लव और लतासमूहको नृत्यकी शिक्षा देकरके, प्रस्फुटित पद्मोंका मधु बरसाके, पुष्प सौरभसे भ्रमरोंको सन्तुष्ट करके, मन्द-मन्द संचारी प्रभात वायु बहने लगती थी ; कमलवनमें मत्त गजके गंडस्थलीय मदके लोभसे स्तुतिपाठक भ्रमर रूपी वैतालिक गुञ्जार करने लगते थे, ऊषरमें शयन करनेके कारण वन्यमृगोंके निचले रोम धूसर वर्ण हो उठते थे और जब प्राभातिक वायु उनका शरीर स्पर्श करती थी तो उनकी उनींदी आंखोंकी ताराएं ढुलमुला जाती थीं और बरौनियां इस प्रकार सटी होती थीं मानों उत्तप्त जतुरससे सटा दी गई हों, वनचर पशु इतस्ततः विचरण करने लगते थे, सरोवरमें कलहंसोंका श्रुति-मधुर कोलाहल सुनाई देने लगता था, मयूरगण नाच उठते थे और सारी वनस्थली एक अपूर्व महिमासे उद्भासित हो उठती थी (कादम्बरीके प्रभात वर्णनसे) । उस जादू भरे रसलोकमें प्रियाके पदाघातसे अशोक पुष्पित हो जाता है; क्रीड़ा-पर्वत परकी चूड़ियों की झनकारसे मयूर नाच उठता है, प्रथम आषाढ़के मेघगर्जनसे हंस उत्कंठित हो जाता है, कज्जल भरे नयनोंके कटाक्षपातसे नील कमलकी पांत बिछ

जाती है, कपोल देशकी पन्नाली झांकते समय प्रियतमके हाथ कांप जाते हैं, आम्र-मञ्जरीके स्वादसे कषायित-कण्ठ कोकिल अकारण ही हृदय कुरेद देते हैं, क्रौंच निनादसे वनस्थलीकी दास्यवीथि अचानक कम्पमान हो उठती है और मलयानिलके झोंकेसे विरहविधुर प्रेमिक रोमहर्षण जाग पड़ते हैं। भारतीय कथा साहित्य वह मोहक अलबम है जिसमें एकसे एक कमनीय चित्र भरे पड़े हैं, वह ऐसा उद्यान है, जहां रंगबिरंगे फूलोंसे लदी क्यारियां हर दृष्टिमें पाठकको आकृष्ट करती हैं।

४९—इन्द्रजाल

इन्द्रजालका अर्थ है इन्द्रियोंका जाल या आवरण अर्थात् वह विद्या जिससे इन्द्रिय जालकी तरह आच्छादित हो जांय। भारतवर्षके इन्द्रजालकी अद्भुत आश्चर्यजनक लीला सारे संसारमें प्रसिद्ध थी। राजसभामें ऐन्द्रजालिकोंके लिये विशिष्ट स्थान दिया जाता था। तन्त्र ग्रन्थोंमें इन्द्रजालकी अनेक विधियां बताई गई हैं। दत्तात्रेय तन्त्रके ग्यारहवें पटलमें दर्जनों ऐसी विधियां दी हुई हैं जिनसे आदमी कबूतर मोर आदि पक्षी बनकर उड़ने लग सकता है मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदिमें बिना अभ्यासके सिद्धि प्राप्त कर सकता है, पति पत्नीको और पत्नी पतिको वश कर सकती है, प्रयोग करने वाला ऐसा अंजन लगा सकता है जिससे वह स्वयं अदृश्य होकर औरोंको देख सके और इसी प्रकारके सैकड़ों कर्म कर सकता है। इन्द्रजाल तन्त्र संग्रह नामक ग्रंथमें हिंस्र जन्तुओंको निवारण करनेका, स्तम्भित करनेका और निश्चेष्ट कर देनेका उपाय बताया गया है, आग बांधना, आग लगी होनेका भ्रम पैदा करना—दूसरोंकी बुद्धि बांध देना आदि अद्भुत फलोंकी व्यवस्था है। इन कार्योंके लिये मन्त्रकी सिद्धिके साथ ही द्रव्य सिद्धिका भी विधान

है। उदाहरणके लिये चलती हुई नावको रोक देनेके लिये यह उपाय वताया गया है कि भरणी नक्षत्रमें क्षीर काष्ठकी पांच अंगुलकी कील नौकामें ठोक देनेसे निश्चित रूपसे नौका स्तम्भन हो जायगा, परन्तु इसके लिये जप आदिकी भी व्यवस्था दी गई है। इस प्रकारके सैकड़ों नुस्खें वताए गए हैं और इस प्रकारके नुस्खे वतानेवाले तन्त्र ग्रंथोंकी संख्या भी वहुत अधिक है। इन पुस्तकोंके पाठमात्रसे कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होती, क्योंकि तन्त्रोंमें वार वार याद दिला दिया गया है कि इन क्रियाओंके लिये गुरुकी उपस्थिति आवश्यक है।

रत्नावलीसे जाना जाता है कि इन्द्र और संवर इस विद्याके आचार्य माने जाते थे। ये इन्द्रजालिक पृथ्वीपर चांद, आकाशमें पर्वत, जलमें अग्नि, मध्याह्न कालमें सन्ध्या दिखा सकते थे, गुरुके मन्त्रकी दुहाई देकर घोषणा करते थे कि जिसको जो देखनेकी इच्छा हो उसे वही दिखा सकेंगे। राज-सभामें राजाकी आज्ञा पाकर वे शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि देवताओंका प्रत्यक्ष दिखा सकते थे। रत्नावलीमें राजाकी आज्ञा पाकर एक ऐन्द्रजालिकने कमल पुष्पमें उपविष्ट ब्रह्माको, मस्तकमें चन्द्रकलाधारी शिवको, शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारी दैत्यनिपूदन विष्णुको, ऐरावतपर समासीन इन्द्रको तथा नृत्यपरायणा दिव्य नारियोंको दिखाया था।

एष ब्रह्मा सरोजे रजनिकरकलाशेखरः शंकरोऽयं
दोर्भिर्दैत्यान्तकोऽसौ सधनुरसिगदाचक्रचिन्हैश्चतुर्भिः,
एषोऽप्यैरावतस्थस्त्रिदशपतिरमी देवि देवास्तथान्ये
नृत्यन्ति व्योम्नि चैताश्चलचरणरणन्नूपुरा दिव्यनार्यः ॥

(रत्ना० ४।७४)

इतना ही नहीं, उसने अन्तःपुरमें आग लगानेका भ्रम भी पैदा कर दिया था। आगकी लपटोंमें बड़े बड़े मकानोंके ऊपर सुनहरा कंगूरासा दिखने लगा था ; असह्य तेजसे उद्यानके वृक्षोंके पत्ते तक झुलसते हुए जान पड़ने लगे थे और क्रीड़ापर्वतपर धुआंका ऐसा अम्बार लग गया था कि वह एक सजल मेघकी भाति दिखने लगा था (४।७५) ।

इस विद्याके आचार्य सम्बर या शबर नामक असुर है। कालिकापुराणसे जान पड़ता है (उत्तर तन्त्र, ६० अध्याय) वेश्याओं, नर्तकों और रागवती औरतोंका एक उत्सव हुआ करता था जिसे शाबरोत्सव कहते थे। इस उत्सवकी विशेषता यह थी कि इस दिन (श्रावण कृष्ण दशमी) को अश्लील शब्दोंका उच्चारण किया जाता था और नागरिकोंमें एक दूसरेको गाली देनेकी प्रथा थी। विश्वास किया जाता था कि जो दूसरेको अश्लील गाली नहीं देता और स्वय दूसरोंकी अश्लील गाली नहीं सुनता उसपर देवी अप्रसन्न होती हैं। शाबर तन्त्र या इन्द्रजाल विद्याका एक बहुत बड़ा हिस्सा वशीकरण विद्या है, शायद इसीलिये शाबरोत्सवमें वेश्याओंका ही प्राधान्य होता था।

५०—द्यूत और समाह्वय

प्राचीन साहित्यके मनोविनोदमें द्यूतका स्थान था। यह दो प्रकारका होता था—अक्षक्रीड़ा और प्राणिद्यूत। विश्वभारती पत्रिका खंड ३ अक २ में पं० श्री हरिचरण बन्द्योपाध्यायने इस विषयमें एक अच्छा लेख दिया है। उस लेखका कुछ आवश्यक अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

"अक्षक्रीड़ा और प्राणिद्यूत दोनों ही व्यसन हैं। मनुने (७।४७-४८) १८ प्रकारके व्यसनोंका उल्लेख किया है ; जिनमें दस कामज हैं और आठ

क्रोधज हैं। काम शब्दका अर्थ इच्छा है और कामज व्यसनका मूल लोभ है। चूंकि अक्षक्रीड़ाका भी मूल लोभ है अर्थात पण और प्रतिपण रूपसे लभ्य धनके उपभोगकी इच्छा ही इसका कारण है, इसीलिये इसकी गणना कामज व्यसनोंमें है। यह व्यसन दुरन्त है अर्थात् इसके अन्तमें दुःख होता है और जीतनेवाले और हारने वालेके बीच वैर उत्पन्न करता है। अक्ष-क्रीड़ाका इतिहास वेदोंमें भी पाया जाता है। ऋग्वेदके दसवें मंडलके ३४ वें सूक्तमें १० ऋचाएं हैं जिनका विषय अक्षक्रीड़ा है। वैदिक-युगमें बहेरेका फल अक्ष-रूपमें व्यवहृत होता था, इसका शारि-फलक (Dice Board) 'इरिण' कहलाता था। सायण-भाष्यमें इसके अर्थके लिये 'आस्फार' शब्दका प्रयोग किया गया है। उक्त सूक्तकी आठवीं ऋचामें 'त्रिपंचाशः क्रीडति व्रातः' कहा गया है, जिसका अर्थ है कि अक्षके ५३ व्रात (संघ) शारि-फलक पर क्रीड़ा करते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि द्यूतकी ५३ सभाएं थीं। जान पड़ता है कि वैदिक-युगमें अक्षक्रीड़ाका विशेष रूपसे प्रचार था। किन्तु सारे ऋग्वेदमें ऐसी एक भी ऋचा नहीं है जिसमें द्यूतकी प्रशंसा की गई हो बल्कि ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि द्यूतहार समस्त धन हारकर ऋण-मुक्तिके लिये चोरी किया करते थे। इसीलिये अक्ष और अक्ष-कितव (जुआड़ी) की निंदा की कथाएं पाई जाती हैं।

गए थे और नाना दुःख-क्लेश सहनेके बाद अयोध्याके राजा ऋतुपर्णके साथी बने थे।

याज्ञवल्क्य-संहिताके व्यवहाराध्यायमें द्यूत-समाह्वय नामका एक प्रकरण है। इसका विषय है द्यूत और समाह्वय। निर्जीव पाशादिसे खेलनेवाली क्रीड़ाको द्यूत कहते हैं। इसमें जिस द्यूतका वर्णन है उसमें जाना जाता है कि द्यूतमें जीते हुए पणमें राजाका हिस्सा होता था और सभिक अर्थात् जुआ खेलने वाला धूर्त कितवोंसे रक्षा करनेके लिये प्राप्य पण दिया करता था। जो लोग कपटपूर्वक या धोखा देनेके लिये मन्त्र या औषधिकी सहायतासे जुआ खेला करते थे उन्हें राजा श्वपद आदि चिन्होंसे चिन्हित करके राज्यसे निर्वासित कर दिया करते थे। द्यूत सभामें चोरी न हो इसके लिये राजाकी ओरसे एक अध्यक्ष नियुक्त हुआ करता था। मेष, महिष, कुक्कुट आदि द्वारा प्रवर्तित पण या शर्त बदकर जो क्रीड़ा हुआ करती थी उसे समाह्वय या समाह्वय नामक प्राणिद्यूत कहा करते थे (याज्ञवल्क्य, २, १९९—२००)। दो मल्लों या पहलवानोंकी कुश्तीको भी समाह्वय कहते थे। नल राजाने अपने भाई पुष्करको राज्यका पण या दाव रखकर जो द्यूत-युद्धके लिये आह्वान किया था उसे भी समाह्वयके अन्तर्गत माना गया है (मनु ९, २२-२२४)।

आजकल जिसे शतरंज कहते हैं वह भी भारतीय मनोविनोद ही है। इसे प्राचीनकालमें 'चतुरंग' कहते थे। हालही में शूलपाणि आचार्यकी लिखी हुई चतुरंग दीपिका नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसमें चतुरंग क्रीड़ाका विस्तार पूर्वक विवेचन है।

मनुने द्यूत और प्राणि समाह्वय दोनों ही को राजाके द्वारा निषिद्ध करनेकी व्यवस्था दी है। अशोकने अपने राज्यमें प्राणि समाह्वयका निषेध

कर दिया था। फिर भी प्राणिसमाह्वय प्राचीन भारतीय नागरिकोंके मनो-विनोदका साधन बना ही रहा। मेष, तित्तिर, लाव इन प्राणियोंकी लड़ाई पर बाजी लगाई जाती थी। इन लड़ाइयोंको देखनेके लिये नागरिकोंकी भीड़ उमड़ पड़ती थी, फिर भी यह विनोद उस उन्मादकी सीमा तक इस देशमें कभी नहीं पहुंचा जिसका परिचय रोम आदि प्राचीन देशोंके इतिहासमें मिलता है।

यह नहीं समझना चाहिए कि द्यूतका कुछ अधिक रसमय और निर्दोष पहलू था ही नहीं। भारतीय साहित्यका एक अच्छा भाग प्रेमियोंकी द्यूत-लीलाका वर्णन है। उसमें भारतीय मनीषाका स्वाभाविक सरस प्रवाह सुन्दर रूपमें सुरक्षित है। विवाहके अवसर पर दुलहिनकी सखियां वरको द्यूतमें ललकारती थीं और नाना प्रकारके पण रखकर उसे छकानेका उपाय करती थी, विवाहके बाद वर-वधू आपसमें नाना भावके रसमय पण रखकर द्यूतमें एक दूसरेको ललकारते थे और यद्यपि इन प्रेम द्यूतोंमें हारना भी जीत थी और जीतना भी तथापि प्रत्येक पक्षमें जीतनेका ही उत्साह प्रधान रहता था—

भोगः समेऽप्यपि जये च पराजये च
यूनो मनस्तदपि वांछति जेतुमेव।

५१—मल्लविद्या

मल्लविद्या भारतवर्षकी अति प्राचीन विद्या है। आज भी उसका कुछ न कुछ गौरव अवशिष्ट रह ही गया है। प्राचीन भारतमें मल्लोंका बड़ा सन्मान
...थी मल्लोंकी कुश्ती नागरिकोंके मनोरंजनके प्रधान साधनोंमें थी।
...१८ पर्व (१२ वें अध्यायमें) में भीम और जीमूत नामक

मल्लकी कुश्तीका बहुत ही हृदयग्राही चित्र दिया हुआ है। दर्शकोंसे भरी हुई मल्ल-रंगशालामें भीम बलशाली शार्दूलकी भांति शिथिल गतिसे उपस्थित हुए। उन्हें अपने पहचाने जानेकी शंका थी इसलिये सकुचित थे। रंगशालामें प्रवेश करके उन्होंने पहले मत्स्यराजको अभिवादन किया फिर कक्षा (काछा) बांधने लगे। उनके काछा बांधते समय जनमंडलीमें अपार हर्षका संचार हुआ। इस वर्णनसे प्राचीन भारतकी मल्ल-मर्यादाका अच्छा परिचय मिलता है। लंगोट अखाड़ेमें बांधनेकी प्रथा थी। प्रतिद्वन्द्वी एक दूसरेको ललकार कर पहले बाहुयुद्धमें भिड़ जाते थे और फिर एक दूसरेके नीचे घुसकर उलट देनेका प्रयत्न करते थे। इसके बाद नाना कौशलोंसे एक दूसरेको पछाड़ देनेका प्रयत्न करते थे। मल्लोंके हाथों कक्कट अर्थात् घट्टे पड़े होते थे। इस प्रसंगमें महाभारतमें नाना प्रकारके मल्लविद्याके पारिभाषिक शब्द भी आए हैं। अर्जुन मिश्रने अपनी भारतदीपिकामें अन्य शास्त्रसे वचन उद्धृत करके इन शब्दोंकी व्याख्या की है। कृत दाव मारनेको और प्रतिकृत उसे काट देनेको कहते थे। चित्रमें नाना प्रकारके मल्लबंधके दाँव चलाए जाते थे। परस्परके संघातको सन्निपात, मुक्का मारनेको अवधूत, गिराकर पीस देनेको प्रमाथ, ऊपर अन्तरीक्षमें बाहुओंसे प्रतिद्वन्द्वीको रगेदनेको उन्मथन और स्थानच्युत करनेको प्रच्यावन कहते थे। नीचे मुखवाले प्रतिद्वन्द्वीको अपने कन्धेपर से घुमाकर पटक देनेसे जो शब्द होता था उसे 'वराहोद्धूत निस्वन' कहते थे। फैली हुई भुजाओं से तर्जनी और अंगुष्ठके मध्य भागसे प्रहार करनेको तलाख्य और अर्द्धचन्द्रके समान मल्लकी मुट्ठीको वज्र कहा जाता था। फैली अंगुलियोंवाले हाथसे प्रहार करनेको प्रहृति कहते थे। इसी प्रकार पैरसे मारनेको पादोद्धत, जंघाओंसे रगेदनेको शवघट्टन, जोरसे

प्रतिद्वन्द्वीको अपनी ओर खींच लानेको प्रकर्षण, घुमाकर खींचनेको अभ्याकर्ष, खींचकर पीछे ले जानेको विकर्षण कहते थे।

इसी प्रकार भागवत (१०-४२-४४) में कंसकी मल्ल-रंगशालाका बड़ा सुन्दर चित्र दिया हुआ है। पहलवानोंने उस रंगशालाकी पूजा की थी, तूर्य भेरी आदि बाजे बजाए गए थे। नागरिकोंके बैठनेके लिये बने हुए मञ्चोंको माला और पताकाओंसे सजाया गया था। नगरवासी (पौर) और दिहातके रहने वाले (जानपद) ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नागरिक तथा राजकर्मचारी अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानों पर बैठे थे। कंसका आसन बीचमें था और वह अनेक मण्डलेश्वरोंसे घिरा हुआ था। सब लोगोंके आसन ग्रहण कर लेनेके बाद मल्ल तालका तूर्य बजा और सुसज्जित मल्ल लोग अपने-अपने उस्तादोंके साथ रंगशालामें पधारे। नन्द गोपोंको भी बुलाया गया, उन्होंने अपने उपहार राजाको भेंट किए और यथास्थान बैठ गए। इस पुराणमें मल्ल-विद्याके अनेक पारिभाषिक शब्दोंका उल्लेख है। परिभ्रामण-विक्षेप-परिरम्भ-अवयातन-उत्सर्पण-अपसर्पण-अन्योन्य प्रतिरोध - उत्थापन - उन्नयन-स्थापन-चालन आदि (भागवत, १०-४४-८-५२) पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग किया गया है। दुर्भाग्यवश इस विद्याके विवरण-ग्रन्थ अब प्राप्य नहीं हैं। पुराणोंमें और टीकाओंमें थोड़ा बहुत साहित्य बच रहा है।

राजशेखरने काव्य-मीमांसाके आरम्भमें ही काव्य विद्याके अट्ठारह अंगोंके नाम गिनाए हैं, जिसमें एक वैनोदिक भी है। *अलङ्कारशास्त्रमें इस प्रकारका* अंग-विभाग साधारणतः नहीं पाया जाता और इसीलिये राजशेखरकी काव्य-मीमांसाके एक अंशका उद्धार होनेपर अब पंडितोंको यह नयी बात मालूम हुई तो इन अंगों और इनके प्रवर्त्तक आचार्योंके सम्बन्धमें नाना भाँतिकी

अलग-अलग चलने लगीं। इन अंगोंमेंसे कई तो निश्चित रूपसे ऐसे हैं जिनका परिचय अलंकार-शास्त्रके भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंसे मिल जाता है पर कुछ ऐसे भी हैं जो नयेसे लगते हैं। 'वैनोदिक' एक ऐसा ही अंग है।

'वैनोदिक' नाम ही विनोदसे सम्बन्ध रखता है। कामशास्त्रीय ग्रन्थोंमें (कामसूत्र, १-४) मदनानकी तिथियां, उद्यान और जलाशय आदिकी क्रीड़ाएं, मुर्गे और बटेरों आदिकी लड़ाइयां, द्यूत क्रीड़ाएं, यक्ष या सुख रात्रियां, कौमुदी जागरण अर्थात् चांदनी रातमें जागकर क्रीड़ा करना इत्यादि बातोंको 'वैनोदिक' कहा गया है। राजशेखरने इस अंगके प्रवर्त्तकका नाम 'कामदेव' दिया है, इससे पण्डितोंने अनुमान भिड़ाया है कि कामशास्त्रीय विनोद और काव्यशास्त्रीय विनोद एक ही वस्तु होंगे। परन्तु कामदेव नामक पौराणिक देवता और वैनोदिक शास्त्र प्रवर्त्तक कामदेव नामक आचार्य एक ही होंगे, ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं भी हो सकता है। राजा भोजके 'सरस्वती कण्ठाभरण' से यह अनुमान और भी पुष्ट होता है कि कामोद्दीपक क्रिया-कलाप ही वस्तुतः वैनोदिक समझे जाते होंगे। शारदातनयके 'भावप्रकाश' में नाना ऋतुओंके लिये विलास-सामग्री बताई गई है। यह परम्परा बहुत दूरतक, ग्वाल और पद्माकर तक आकर अपने चरम विलास पर पहुँचकर समाप्त हो गई है। अतः इन वैनोदिक सामग्रियोंका कामशास्त्र वर्णित सामग्रियोंसे मिलना न तो आश्चर्यका कारण हो सकता है और न यही सिद्ध करता है कि कामसूत्रमें जो कुछ वैनोदिकके नामसे दिया गया है वही काव्यशास्त्रीय वैनोदिकका भी प्रतिपाद्य हो।

कादम्बरीमें बाणभट्टने राजा शूद्रककी वर्णनाके प्रसंगमें कुछ ऐसे काव्य-विनोदोंकी चर्चा की है जिनके अभ्याससे राजा कामशास्त्रीय विनोदोंके प्रति

वितृष्ण हो गया था। हमारा अनुमान हैं कि ऐसे ही विनोद काव्यशास्त्रीय विनोद कहे जाते होंगे। वे इस प्रकार हैं—वीणा, मृदंग आदिका बजाना, मृगया, विद्वत्सेवा, विदग्धों यानी रसिकोंकी मंडलीमें काव्य प्रबन्धादिकी रचना करना, आख्यायिका आदिका सुनना, आलेख्य कर्म, अक्षरच्युतक मात्राच्युतक, विंदुमती, गूढ़ चतुर्थपाद, प्रहेलिका आदि। शूद्रक इन्हीं विनोदोंसे काल यापन करता हुआ "वनिता संभोग पराङ्मुख" हो सका था। यहां स्पष्ट ही काम-शास्त्रीय विनोदोंके साथ इन विनोदोंका विरोध बताया गया है। क्योंकि कामशास्त्रीय विनोदोंका फल और चाहे जो कुछ भी हो, "वनिता संभोग-पराङ्-मुखता" नहीं है। उन दिनों सभा और गोष्ठियोंमें इन विनोदोंकी जानकारीका बड़ा महत्व था। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि दण्डीने काव्यादर्श (१-१०५) में कीर्ति प्राप्त करनेकी इच्छा वाले कवियोंको श्रम-पूर्वक सरस्वतीकी उपासनाकी व्यवस्था दी है क्योंकि कवित्वशक्तिके दुर्बल होने पर भी परिश्रमी मनुष्य विदग्ध गोष्ठियोंमें इन उपायोंको जानकर विहार कर सकता था :

तदस्ततंद्रैरनिशं सरस्वती
श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमाः
विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते ॥

यह स्पष्ट कर देना उचित है कि यहां यह नहीं कहा जा रहा है कि काम-शास्त्रमें जो कुछ कहा गया है वह निश्चित रूपसे काव्यशास्त्रीय विनोदोंमें नहीं आ सकता। हमारे कहनेका तात्पर्य यह है कि काव्यके वैनोदिक अंगके नामसे जो बातें मिलती हैं वही हू-बहू काव्यशास्त्रीय वैनोदिक नहीं हो

सकतीं और कहीं-कहीं निश्चित रूपसे उल्लेख मिलता है कि काव्यशास्त्रीय विनोदोंके अभ्याससे राजकुमारगण कामशास्त्रीय विनोदोंसे बच जाया करते थे। स्वयं 'वात्स्यायनके कामसूत्र' में इस प्रकारकी काव्य-कलाओंकी सूची है जो यद्यपि कामशास्त्रीय विनोदोंकी सिद्धिके लिये गिनाए गए हैं तथापि उन्हें 'वनिता संभोग पराङ्मुखता' के उद्देश्यसे कोई व्यवहार करना चाहे तो शूद्रककी भांति निःसंशय उसका उपयोग कर सकता है।

वात्स्यायनकी ६४ कलाओंकी लम्बी सूचीमें कुछका सम्बन्ध विशुद्ध मनोविनोदसे है जो चीनी तुर्किस्तानकी चगबाजी या रोमके पशुयुद्धसे मिलती जुलती हैं। इनमें भेड़े, मुर्गों और तित्तिरोंकी लड़ाई, तोतों और मैनोंको पढ़ाना है और ऐसी ही और और बातें हैं। कुछ प्रेमके घात-प्रतिघातमें सहायक हैं, जैसे प्रियाके कपोलोंपर पत्राली लिखना, दांत और वस्त्रोंका रंगना, फूलों और रंगे हुए चावलोंसे नाना प्रकारके नयनाभिराम चित्र बनाना इत्यादि। और बाकी विशुद्ध साहित्यिक हैं जिनके लक्षण यद्यपि काव्य ग्रंथोंमें मिल जा सकते हैं पर प्रयोगकी भंगिमा और योजना अपूर्व और विलक्षण है।

उन दिनों बड़ी-बड़ी गोष्ठियों, समाजों और उद्यान-यात्राओंका आयोजन होता था। उनमें नाना-नाना प्रकारके साहित्यिक मनोविनोदोंकी धूम मच जाती थी। कुछ मनोविनोदोंकी चर्चा की जा रही है।

(१) प्रतिमाला या अन्त्याक्षरीमें एक आदमी एक श्लोक पढ़ता था और उसका प्रतिपक्षी पण्डित श्लोकके अन्तिम अक्षरसे शुरू करके दूसरा अन्य श्लोक पढ़ता था। यह परम्परा लगातार चलती जाती थी। (२) दुर्वाचन योगके लिये ऐसे कठोर उच्चारण वाले शब्दोंका श्लोक सामने रखा जाता था कि जिसे

पढ़ सकना बड़ा मुश्किल होता। उदाहरणके लिये जयमंगलाकारने यह श्लोक बताया है—

दंष्ट्राग्रद्ध्वां प्रययोद्राक् क्ष्मामग्न्वन्तः स्थामुन्निक्षेप।
देव श्रु द्ध्रिकन्तृत्विक् स्तुत्यो युष्मानसोऽव्यात् सर्पाङ्केतुः

(३) मानसीकला एक अच्छा साहित्यिक मनोविनोद थी। कमलके या अन्य किसी वृक्षके पुष्प अक्षरोंकी जगह पर रख दिए जाते थे। इसे पढ़ना पड़ता था। पढ़ने वालेकी चातुरी इस बातपर निर्भर करती थी कि वह इन पुष्प, ठकार आदिकी सहायतासे एक ऐसा छन्द बनाले जो सार्थक भी हो और छन्दके नियमोंके विरुद्ध भी न हो। यह बिन्दुमतीसे कुछ मिलता-जुलता है। लेकिन इस कलाका और भी कठिन रूप यह होता था कि पढ़ने वालेके सामने फूल आदि कुछ भी न रखकर केवल उसे एकबार सुना दिया जाता था कि कहां कौन सी मात्रा है और कहां अनुस्वार विसर्ग है।
(४) अक्षर मुष्टि दो तरह की होती थी। साभासा और निरवभासा। साभासा संक्षिप्त करके बोलनेकी कला है, जैसे 'फाल्गुन-चैत्र-वैशाख' को 'फा चै वै' कहना। इस प्रकारके संक्षिप्तीकृत श्लोकोंका अर्थ निकालना सचमुच टेढ़ी खीर है। निरवभासा या निराभासा अक्षरमुष्टि गुप्त भावसे बातचीत करनेकी कला है। इसके लिये उन दिनों नाना भांतिके संकेत प्रचलित थे। हथेली और मुट्ठीको भिन्न-भिन्न आकारमें दिखानेसे भिन्न-भिन्न वर्ग सूचित होते हैं। जैसे कवर्गके लिये मुट्ठी बांधना, चवर्गके लिये हथेलीको किसलयके समान बनाना इत्यादि। वर्ग बतानेके बाद उसके अक्षर बताए जाते थे और इसके लिये अंगुलियोंको उठाकर काम चलाया जाता था जैसे,

इस प्रकार अक्षर तय हो जानेपर पोरोंसे या चुटकी बजाकर मात्राकी संख्या बताई जाती थी। पुराने संकेतोंका एक श्लोक इस प्रकार है :

मुष्टिः किसलयं चैवं घटा च त्रिपताकिका।
पताका कुशमुद्राद्यमुद्रा वर्गेषु सप्तसु।

ऐसे ही नाना प्रकारके साहित्यिक मनोविनोद उन दिनों काफी प्रचलित थे।

अब यदि इस प्रकारके समाजमें कविको कीर्ति प्राप्त करना है तो उसे इन विषयोंका अभ्यास करना ही होगा। यही कारण है कि भारतीय साहित्यमें यद्यपि 'रस' को काव्यका श्रेष्ठ उपादान स्वीकार किया गया है तथापि नाना प्रकारके शब्द चातुर्य और अर्थ चातुरीको भी स्थान दिया गया है।

५२—प्रकृतिकी सहायता

भारतवर्षका नक्षत्र तारा खचित नील आकाश, नद-नदी पर्वतोंसे शोभायमान विशाल मैदान और तृण शाद्वलोंसे परिवेष्टित हरित वनभूमिने इस देशको उत्सवोंका देश बना दिया है। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि वसन्तागमके साथ ही साथ किस प्रकार भारतीय चित्त आह्लाद और उल्लाससे नाच उठता था। मदनपूजा, कुसुम-चयन, हिन्दोल लीला, उदकक्ष्वेडिका आदि उल्लासपूर्ण विनोदोंसे समग्र जनचित्त आन्दोलित हो उठता था, राज अन्तःपुरसे लेकर गरीब किसानकी झोपड़ी तक नृत्य-गीतकी मादकता बह जाती थी और जनचित्तके इस उल्लासको प्रकृति अपने असीम ऐश्वर्यसे चौगुना बढ़ा देती थी। और भला जब दिगन्त सहकार (आम) मंजरीके केसरसे मूर्च्छमान हो, और मधुपानसे मत्त होकर भौंरे गली-गली घूम रहे हों तो

ऐसे भरे वसन्तमें किसका चित्त एक अज्ञात उत्कंठासे कातर नहीं हो जायगा ?—

सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्च्छितदिगन्ते
मधुरमधुविधुरमधुपे मधौ भवेत्कस्य नोत्कंठा ?

वसन्त फूलोंका ऋतु है। लाल-लाल पलाश, गुलाबी काञ्चनार, सुवर्णाभ आरग्वध, मुक्ताफलके समान सिन्दुवार कोमल शिरीष और दूधके समान श्वेत मल्लिका आदि पुष्पोंसे वनभूमि चित्रकी भांति मनोहर हो उठती है, पुष्प-पल्लवोंके भारसे वृक्ष लद जाते हैं, कुसुम स्तवकोंसे फूली हुई मञ्जुल लताएं मलयानिलके झोंकोंसे लहराने लगती हैं, मदमत्त कोकिल और भ्रमर अकारण औत्सुक्यसे लोकमानसको हिल्लोलित कर देते हैं, ऐसे समयमें उत्कंठा न होना ही अस्वाभाविक है। वनभूमि तक जब नृत्य और वाद्यसे मदिर हो उठी तो मनुष्य तो मनुष्य ही है। कौन है जो मल्लिकाका रस पीकर मत-वाली बनी हुई भ्रमरियोंके कलगानको सुनकर और दक्षिणी पवन रूपी उस्ताद जी से शिक्षा पाई हुई वञ्जुल (बेत) लताकी मंजरियोंका नर्तन देखकर उत्सुक न हो उठे ? पुराना भारतवासी जीवन्त था, वह इस मनोहरी शोभा को देखकर मुग्ध हो उठता था—

इह मधुपवधूनां पीतमल्लीमधूनां
विलसति कमनीयः काकलीसंप्रदायः।
इह नटति सलीलं मञ्जरी वञ्जुलस्य
प्रतिपदमुपदिष्टा दक्षिणेनानिलेन ॥

सो, वसन्तके समागमके साथ ही साथ प्राचीन भारतका चित्त जाग उठता था, वह नाच-गान, खेल-तमाशेमें मत्त हो उठता था।

वसन्तके बाद ग्रीष्म। पश्चिमी रेगिस्तानी हवा आग बरसाती हुई त्रिलोकको समूची आर्द्रताको सोख लेती, दावाग्निकी भांति नील वनराजिको भस्मसात् कर देती, विकराल ववण्डरोंसे उड़ाई हुई तृण धूलि आदिसे आसमान भर जाता और बड़े-बड़े तालाबोंमें भी पानी सूख जानेसे मछलियां लोटने लगतीं—सारा वातावरण भयंकर अग्निज्वालासे धधक उठता—फिर भी उस युगका नागरक इस विकट कालमें भी अपने विलासका साधन संग्रह कर लेता था। कविने सन्तोषके साथ नागरकके इस विलासका औचित्य बताया है। भला यदि ग्रीष्म न होता तो ये सफेद महीन वस्त्र, सुगन्धितम कर्पूरका चूर्ण, चन्दनका लेप, पाटल पुष्पोंसे सुसज्जित धारागृह (फव्वारे वाले घर), चमेलीकी माला, चन्द्रमाकी किरणें क्या विधाताकी सृष्टिकी व्यर्थ चीजें न हो जातीं ?

> अत्यच्छं सितमंशुकं शुचि मधु स्वामोदमच्छं रजः
> कार्पूरं विधुतार्द्रचन्दनकुचद्वंद्वाः कुरंगीदृशः।
> धारावेश्म सपाटलं विचकिलस्रग्दाम चन्द्रत्विषा
> धातः सृष्टिरियं वृथैव तव नो ग्रीष्मोऽभविष्यद्यदि !!

इस ग्रीष्मकालका सर्वोत्तम विनोद जलक्रीड़ा था जिसका काव्योंमें अत्यधिक वर्णन पाया जाता है। जलाशयोंमें विलासिनियोंके कानमें धारण किए हुए शिरीष पुष्प छा जाते थे, पानी चन्दन और कस्तूरिकाके आमोदसे तथा नाना रंगके अंगरागोंसे और शृङ्गार साधनोंसे रंगीन हो जाता था, जल स्फालनसे उठे हुए जल विन्दुओंसे आकाशमें मोतियोंकी लड़ी बिछ जाती थी, जलाशयके भीतरसे गूंजते हुए मृदंगघोषको मेघकी आवाज समझकर बिचारे मयूर उत्सुक हो उठते थे, केशोंसे खिसके हुए अशोक पल्लवोंसे कमल

दल चित्रित हो उठते थे और आनन्द कल्लोलसे दिङ्मण्डल मुखरित हो उठता था। प्राचीन चित्रोंमें भी यह जलकेलि मनोरम भावसे अंकित है। इस प्रकार प्रकृतिकी तीव्र तापकी पृष्ठभूमिमें मनुष्य चित्तका अपना शीतल विनोद विजयी बनकर निकलता था। वसन्तमें प्रकृति मानवचित्तके अनुकूल होती है और इसीलिये वहां आनुकूल्य ही विनोदका हेतु है पर ग्रीष्मके विनोदके मूलमें है विरोध। प्रकृति और मनुष्यके विरुद्ध मनोदशाओंसे यह विनोद अधिक उज्ज्वल हो उठता था। एक तरफ प्रकृतिका प्रकुपित निःश्वास बड़े बड़े जलाशयोंको इस प्रकार सुखा देता था कि मछलियां कीचड़में लोटने लगती थीं और दूसरी तरफ मनुष्यके बनाए क्रीड़ा-सरोवरोंमें वारि-विलासिनियोंके कानोंसे खिसके हुए शिरीष पुष्प—जो इस ग्रीष्मकालमें उत्तम और उचित कानोंके गहने हुआ करते थे—मुग्ध मछलियोंके चित्तमें शैवाल जालका भ्रम उत्पन्न करके उन्हें चंचल बना देते थे।—

अमी शिरीषप्रसवावतंसाः
प्रभ्रंशिनो वारिविहारिणीनाम्
पारिप्लवाः केलिसरोवरेषु
शैवाललोलांश्छलयन्ति मीनान्।

ग्रीष्म बीतते ही वर्षा। आसमान मेघोंसे, पृथ्वी नवीन जलकी धारासे, दिशाएं बिजलीकी चञ्चल लताओंसे, वायुमण्डल वारिधारासे, वनभूमि कुटज पुष्पोंसे और नदियां बाढ़से भर गईं—

मेघैर्व्योम नवांबुभिर्वसुमती विद्युल्लताभिर्दिशो
धाराभिर्गगनं वनानि कुटजैः पूरैर्वृता निम्नगाः।

मालती और कदम्ब, नीलोत्पल और कुमुद, मयूर और चातक, मेघ और विद्युत् वर्षाकालको अभिराम सौन्दर्यसे भर देते हैं। प्राचीन भारत वर्षाका उपभोग नाना भावसे करता था। सबसे सुन्दर और मोहक विनोद झूला झूलना था जो आज भी किसी न किसी रूपमें बचा हुआ है। मेघ निःस्वन और धाराकी रिमझिमके साथ झूलेका अद्भुत तुक मिलता है (दे० पृ० ३७)। जिस जातिने इस विनोदका इस ऋतुके साथ सामजस्य ढूंढ निकाला है उसकी प्रशंसा करनी चाहिए। वर्षाकाल कितने आनन्द और औत्सुक्यका काल है उसे भारतीय साहित्यके विद्यार्थी मात्र जानते हैं। मेघदूतका अमर संगीत इसी कालमें सम्भव था। कोई आश्चर्य नहीं यदि केका (मोरकी वाणी) की आवाजसे, मेघोंके गर्जनसे, मालती लताके पुष्प-विकाससे, कदम्बकी भीनी-भीनी सुगन्धसे और चातककी रटसे मनुष्यका चित्त उत्क्षिप्त हो जाय—वह किसी अहैतुक औत्सुक्यसे चचल हो उठे। वर्षाका काल ऐसा ही है। यह वह काल है जब हंस आदि जलचर पक्षी भी अज्ञात औत्सुक्यसे चचल होकर मानसरोवरकी ओर दौड़ पड़ते हैं। राजहंसके विषयमें काव्य-ग्रन्थोंमें कहा गया है कि वर्षाकालमें वह उड़कर मानसरोवरकी ओर जाने लगता है। बल्कि यह कवि-प्रसिद्धि हो गई है कि वर्षा ऋतुका वर्णन करते समय यह जरूर कहा जाय कि वे उड़कर मानसरोवर की ओर जाते हैं (साहित्यदर्पण ७, २३)। कालिदासके यक्षने अपने सन्देशवाही मेघको आश्वस्त कराते हुए कहा था कि हे मेघ, तुम्हारे श्रवण-सुभग मनोहर गर्जनको सुनकर मानसरोवरके लिये उत्कंठित होकर राजहंस मुंहमें मृणाल-तन्तुका पाथेय लेकर उड़ पड़ेंगे और कैलास पर्वत तक तुम्हारा साथ देंगे—

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवंध्याम्।
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः॥
आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः।
संपत्स्यंते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः॥
(मेघदूत १।११)

परन्तु प्राचीन भारतका सहृदय अपने इस प्रिय पक्षीके उत्सुक हृदयको पहचानता था, उसने अपने क्रीड़ा-सरोवरमें ऐसी व्यवस्था कर रखी थी कि हंस उस वियोगी पथिककी भांति दिङ्मूढ़ न होने पावे जो अभागा वर्षाकाल में घरसे बाहर निकल पड़ा था और ऊपर घनपटल मेघको, अगल बगलमें मोर नाचते हुए पहाड़ोंको, तथा नीचे तृणांकुरोंसे धवल पृथ्वीको देखकर ऐसा विरह-विधुर हुआ था कि सोच ही नहीं पा रहा था कि किधर दृष्टि दें—सब तरफ तो दिलमें हूक पैदा करनेवाली ही सामग्री थी :—

उपरि घनं घनपटलं तिर्यग्गिरयोऽपि नर्ततिमयूराः।
क्षितिरपि कन्दलधवला दृष्टिं पथिकः क्व पातयतु ?

काव्य-ग्रन्थोंमें यह वर्णन भी मिलता है कि राजाओं और रईसोंकी भवन-दीर्घिका (घरका भीतरी तालाब) और क्रीड़ा-सरवरोंमें सदा पालतू हंस रहा करते थे! कादम्बरीमें कहा गया है कि जब राजा शूद्रक सभा-भवनसे उठे तो उनको घेरकर चलनेवाली वारविलासिनियोंके नूपुर रवसे आकृष्ट होकर भवन-दीर्घिकाके कलहंस सभागृहकी सोपान-श्रेणियोंको धवलित करके कोलाहल करने लगे थे और स्वभावतः ही ऊंची आवाज वाले गृहसारस मेखला-ध्वनिसे उत्कण्ठित होकर इस प्रकार क्रेंकार करने लगे मानों कांसेके बर्तन पर रगड़ पड़नेसे कर्णकटु आवाज निकल रही हो। कालिदासने गृह-दीर्घिकाओंके जिन

उदक-लोल विहगमोंका वर्णन किया है वे मल्लिनाथके मतमें हंस ही थे। यद्यपि संस्कृतका कवि राजहंस और कलहंसको सम्बोधन करके कह सकता है कि हे हंसो, कमलधूलिसे धूसरांग होकर इस भ्रमर गुंजित पद्मवनमें हंसिनियोंके साथ तभी तक क्रीड़ा कर लो जब तक कि हर-गरल और कालव्याल जालावलीके समान निविड़ नील मेघसे सारे दिङ्मण्डलको काला कर देनेवाला (वर्षा) काल नहीं आ जाता, परन्तु भवन-दीर्घिकाके हंस फिर भी निश्चिन्त रहेंगे। उन्हें किस बातकी कमी है कि वे मेघके साथ मानस-सरोवरकी ओर दौड़ पड़े। यही कारण है कि यक्षके बगीचेमें जो मरकत मणियोंके घाट वाली वापी थी, जिसमें स्निग्ध वैदूर्य-नाल वाले स्वर्णमय कमल खिले हुए थे, उसमें डेरा डाले हुए हंस, मानसरोवरके निकटवर्ती होने पर भी मेघको देखकर वहां जानेके लिये उत्कण्ठित होने वाले नहीं थे। उनको वहां किस बातकी चिन्ता थी, वे तो 'व्यपगत शुच्' थे। यह व्याख्या गलत है कि यक्षका गृह ऐसे स्थान पर था जहां वस्तुतः हंस रुक जाते हैं। सही व्याख्या यह है, जैसा कि मल्लिनाथने कहा है कि वर्षाकालमें भी उस वापीका जल कलुष नहीं होता था इसलिये वहांके हंस निश्चिन्त थे।

वर्षा बीती और लो, नववधूकी भांति शरद ऋतु आ गई। प्रसन्न है उसका चन्द्रमुख, निर्मल है उसका अम्बर, उत्फुल्ल हैं उसके कमल-नयन, लक्ष्मीकी भांति विभूषित है वह लीला कमलसे तथा उपशोभित है हंस-रूपी बाल-व्यजन (नन्हें-से पंखे) से। आज जगतका अशेष तारुण्य प्रसन्न है।

अथ प्रसन्नेन्दुमुखी सिताम्बरा
समाययावुत्पलपत्रनेत्रा।

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवंध्याम् ।
तच्छ्रुत्वाते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः ॥
आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः ।
संपत्संते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः
(मेघदूत

परन्तु प्राचीन भारतका सहृदय अपने इस प्रिय पक्षी
पहचानता था, उसने अपने क्रीड़ा-सरोवरमें ऐसी व्यवर
हंस उस वियोगी पथिककी भांति दिङ्मूढ़ न होने
में घरसे बाहर निकल पड़ा था और ऊपर घनपट
मोर नाचते हुए पहाड़ोंको, तथा नीचे तृणांकु
ऐसा विरह-विधुर हुआ था कि सोच ही नहीं
दें—सब तरफ तो दिलमें हूक पैदा करने

उपरि घनं घनपटलं तिर्य
क्षितिरपि कन्दलधवला

काव्य-ग्रन्थोंमें यह वर्णन भी
भवन-दीर्घिका (घरका भीतरी
रहा करते थे !
उठे तो उनको घेरकर

अत्यन्त सरस विनोद था और अवसर पाते ही कवियोंने दिल खोलकर इसका वर्णन किया है। सुन्दर मणिनूपुरोंके क्वणन, मेखलाकी चंचल लरोंका झण-झणयित और बार बार टकराने वाली चपल चूड़ियोंकी झनझुनके साथकी कन्दुक क्रीड़ामें अपना एक ऐसा स्वतन्त्र छन्द है जो बरबस मन हरण करता होगा।

> अमन्दमणिनूपुरक्वणनचारुचारिक्रमं
> झणज्झणितमेखलातरलतारहारच्छटम्
> इदं तरलकंकणावलिविशेषवाचालितं
> मनोहरति सुभ्रुवः किमपि कन्दुकक्रीडितम्।

सो भारतवर्षकी प्रकृति अनुकूल होकर भी और प्रतिकूल होकर भी सरस विनोदकी सहायता करती थी। उस दिन इस देशका चित्त जागरूक था, आज वह वैसा नहीं है।' हम उस कल्पलोकको आश्चर्य और संभ्रमके साथ देखते रह जाते हैं।

५.३ सामाजिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि

समूचे प्राचीन भारतीय साहित्यमें जो बात विदेशी पाठकको सबसे अधिक आश्चर्यमें डाल देती है, वह यह है कि इस साहित्यमें कहीं भी असन्तोष या विद्रोहका भाव नहीं है। पुनर्जन्म और कर्मफलके सिद्धान्तोंके स्वीकार कर लेनेके कारण पुराना भारतीय इस जगत्को एक उचित और सामंजस्य पूर्ण विधान ही मानता आया है। यदि दुःख है तो इसमें असन्तुष्ट होनेका कोई हेतु नहीं क्योंकि मनुष्य इस जगत्में अपने किएका फल भोगनेको आया ही है। इस असन्तोषके अभावने सामाजिक वातावरणको

सपंकजा श्रीरिव गां निषेवितु'
सहंस-बाल-व्यजना शरद्वधूः ॥
—महामनुष्य ।

शरद्वधू आई और साथमें लेती आई कादम्ब और कारण्डवको, चक्र-वाक और सारसको, क्रौंच और कलहंसको। आदि कविने लक्ष्य किया था (किष्किन्धा, ३०) कि शरदागमके साथ ही साथ पद्म धूलि- धूसर सुन्दर और विशाल पक्ष वाले कामुक चक्रवाकोंके साथ कलहंसोंके झुण्ड महानदियोंके पुलिनोंपर खेलने लगे थे। प्रसन्नतोया नदियोंके सारस-निनादित स्रोतमें-जिनमें कीचड़ तो नहीं था, पर बालूका अभाव भी नहीं था—हंसोंका झुण्ड झांप देने लगा था। एक हंस कुमुद-पुष्पोंसे घिरा हुआ सो रहा था और प्रशान्त निर्मल ह्रदमें वह ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो मेघमुक्त आका-शमें तारागणोंसे वेष्टित पूर्ण चन्द्र हो। संस्कृतके कविने शरद् ऋतुमें होने वाले अद्भुत परिवर्तनको अपनी और भी अद्भुत भंगीसे इस प्रकार लक्ष्य किया था कि आकाश अपनी स्वच्छतासे निर्मल नीर-सा बना हुआ है, कान्ता अपनी कमनीय गतिसे हंस-सी बनी जा रही है और हंस अपनी शुक्लतासे चन्द्रमा-सा बना जा रहा है। सब कुछ विचित्र, सब कुछ नवीन, सब कुछ स्फूर्तिदायक।

शरद् ऋतु उत्सवोंका ऋतु है। कौमुदी महोत्सव रात्रि जागरण, द्यूत विनोद और सुख रात्रियोंके लिये इतना उत्तम समय कहां मिलेगा। शरद् ऋतुके बाद शीतकाल आता था परन्तु यह शीत इस देशमें इतना कठोर नहीं होता कि कोई उत्सव मनाया ही न जा सके। हेमन्त काल युवक-युवतियोंके कन्दुक क्रीड़ाका काल था। यह कन्दुक क्रीड़ा प्राचीन भारतका

अत्यन्त सरस विनोद था और अवसर पाते ही कवियोंने दिल खोलकर इसका वर्णन किया है। सुन्दर मणिनूपुरोंके क्वणन, मेखलाकी चंचल लरोंका झण-झणायित और बार बार टकराने वाली चचल चूड़ियोंकी रुनझुनके साथकी कन्दुक क्रीड़ामें अपना एक ऐसा स्वतन्त्र छन्द है जो बरबस मन हरण करता होगा।

> अमन्दमणिनूपुरक्वणनचारुचारिक्रमं
> झणज्झणितमेखलातरलतारहारच्छटम्
> इदं तरलकंकणावलिविशेषवाचालितं
> मनोहरति सुभ्रु यः किमपि कन्दुकक्रीडितम्।

वो भारतवर्षकी प्रकृति अनुकूल होकर भी और प्रतिकूल होकर भी सरस विनोदकी सहायता करती थी। उस दिन इस देशका चित्त आसक्त था, आज वह वैसा नहीं है।' हम इस कल्पलोकको आश्चर्य और सम्भ्रमके साथ देखते रह जाते हैं।

५.३ सामाजिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि

समूचे प्राचीन भारतीय साहित्यमें जो बात विदेशी पाठकको सबसे अधिक आश्चर्यमें डाल देती है, वह यह है कि इस साहित्यमें कहीं भी असन्तोष या विद्रोहका भाव नहीं है। पुनर्जन्म और कर्मफलके सिद्धान्तोंके स्वीकार कर लेनेके कारण पुराना भारतीय इस जगत्को एक उचित और सामंजस्य पूर्ण विधान ही मानता आया है। यदि दुःख है तो इसमें असन्तुष्ट होनेका कोई हेतु नहीं क्योंकि मनुष्य इस जगत्में अपने किएका फल भोगनेको आया ही है। इस असन्तोषके अभावने सामाजिक वातावरणको

आनन्द, उल्लास और उत्सवके अनुकूल बना दिया है। यही कारण है कि भारतीय चित्र इन उत्सवोंको केवल थके हुए दिमागका विश्राम नहीं समझता वह इसे मांगल्य मानता है। नाच, गान, नाटक केवल मनोविनोद नहीं हैं, परम मांगल्यके जनक हैं, इनको विधिपूर्वक करनेसे गृहस्थके अनेक पुराकृत कर्मसे उत्पन्न विघ्न नष्ट होते हैं, पुण्य होता है, पापक्षय होता है और सुललित फलोंवाला कल्याण होता है—

माङ्गल्यं ललितैश्चैव ब्रह्मणोवदनोद्भवम्
सुपुण्यं च पवित्रं च शुभं पापविनाशनम्।

(नाट्यशास्त्र ३६-७३)

क्योंकि देवता गन्धमाल्यसे उतना प्रसन्न नहीं होते जितना नाट्य और नृत्यसे होते हैं (नाट्यशास्त्र ३६-७७)। जो इस नाट्यको सावधानीके साथ सुनता है या जो प्रयोग करता है या जो देखता है वह उस गतिको प्राप्त होता है जो वेदके विद्वानोंको मिलती है, जो यज्ञ करनेवालेको मिलती और जो गति दानशीलोंको प्राप्त होती है (ना० शा० ३६-७४-७५) क्योंकि, जैसा कि कालिदास जैसे क्रान्तदर्शी कह गए हैं, मुनि लोग इसे देवताओंका अत्यन्त कमनीय चाक्षुष यज्ञ बताया है—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः
कान्तं क्रतुं चाक्षुषम्।

शायद ही संसारकी किसी और जातिने नृत्य और नाट्यको इतनी बड़ी चीज समझी हो। यही कारण है कि प्राचीन भारत नृत्य गीत और नाट्यको

यह बात कुछ विचित्र-सी लग सकती है कि यद्यपि गोष्ठी-विहार, यात्रा-उत्सव, नट-नृत्य और नाट्य प्रदर्शनोंको इतना महत्त्वपूर्ण प्रयोग माना जाता था फिर भी भारतीय गृहस्थ यह नहीं चाहता था कि उसके घरकी बहू-बेटी इन उत्सवोंमें भाग लें। कामशास्त्रके आचार्यों तकने गृहस्थोंको सलाह दी है कि इन उत्सवोंसे अपनी स्त्रियोंको अलग रखें। पद्मश्री नामक बौद्ध कामशास्त्रीने उद्यान-यात्रा, तीर्थयात्रा, नटयुद्ध, बड़े-बड़े उत्सव आदिसे स्त्रियोंको अलग रखनेकी व्यवस्था दी है :

> उद्यानतीर्थनटयुद्धसमुत्सवेषु
> यात्रादिदेवकुलबन्धुनिकेतनेषु ।
> क्षेत्रे प्रवासिशिशुपुत्रतीरतिसंगमेषु
> नित्यं सता स्ववनिता परिरक्षणीया ।
>
> (नागरसर्वस्व ९-१२)

परन्तु ये निषेध ही इस बातके सबूत हैं कि स्त्रियाँ इन उत्सवोंमें जाती जरूर थीं। परन्तु जो लोग नाच गानका पेशा करते थे वे बहुत ऊंची निगाहसे नहीं देखे जाते थे, यह सत्य है। क्यों ऐसा हुआ, और ऊपर बताए हुए महान् आदर्शसे इसका क्या सामञ्जस्य है? वस्तुतः नाच गान नाट्य रागके प्रयोगकर्त्ता स्त्री पुरुष शिथिल चरित्रके हुआ करते थे परन्तु उनके प्रयोजित नाट्यादि प्रयोग फिर भी महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। पेशा करने वालोंकी स्वतन्त्र जाति थी और जाति-प्रथाके विचित्र तत्त्ववादके अनुसार उनका शिथिल चरित्र भी उस जातिका एक कर्म मान लिया गया था। जब किसी जातिके कर्मका विधान स्वयं विधाताने कर दिया हो तो उसके बारेमें चिन्ता करनेकी कोई बात रह ही कहां जाती है? इस प्रकार भारतवर्ष

अम्लान चित्तसे इन परस्पर विरोधी बातोंमें भी एक सामञ्जस्य ढूंढ़ चुका था।

गृहस्थके अपने घरमें भी नृत्य गानका मान था। इस बातके पर्याप्त प्रमाण हैं कि अन्तःपुरकी वधुएं नाटकोंका अभिनय करती थीं। यहां नाट्य और नाट्यके प्रयोक्ता दोनों ही पवित्र और महनीय होते थे। यहीं वस्तुतः भारतीय कला अपने पवित्रतम रूपमें पालित होती थी। गृहस्थका मर्म-स्थान उसका अन्तःपुर है और वह अन्तःपुर जिन दिनों स्वस्थ था उन दिनों वहां सुकुमारकलाकी स्रोतस्विनी बहती रहती थी। अन्तःपुरकी देवियोंको उच्छृंखल उत्सवों और यात्राओंमें जाना निश्चय ही अच्छा नहीं समझा जा सकता था। परन्तु इसका मतलब यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि स्त्रियां हर प्रकारके नाट्य रंगसे दूर रखी जाती थीं। एक प्रकारका हुजूम हर युगमें और हर देशमें ऐसा होता है जिसमें किसी भले घरकी बहू-बेटीका जाना अशोभन होता है। प्राचीन भारतके अन्तःपुरोंमें नाट्य नृत्यका जो बहुल प्रचार था उसके प्रमाण बहुत पाए जा सकते हैं। हमने पहले कुछ लक्ष्य भी किए हैं।

परिशिष्ट

[श्री ए० वेंकट सुब्बैयाने नाना ग्रन्थोंसे कलाओंकी सूची तैयार की है। वह पुस्तक अडयार (मद्रास) से सन् १९११ में छपी थी। पाठकोंको कलाओंके विषयमें विस्तृत रूपसे जाननेके लिये इस पुस्तकको देखना चाहिए। यहा विभिन्न ग्रन्थोंसे चार कला-सूचियां संग्रह की जा रही हैं। तीन सूचियांश्री वेंकट सुब्बैयाकी पुस्तकमें प्राप्य हैं। चौथी अन्यत्रसे ली गई है। कई स्थानोंपर प्रस्तुत लेखकने श्री वेंकट सुब्बैया की व्याख्याओंसे भिन्न व्याख्या दी है परन्तु सर्वत्र इन कलाओंका मूल अर्थ समझने में उनकी व्याख्याओं का सहारा लिया है।]

१—ललितविस्तरकी कलासूची

१ लङ्घितम्—कूदना।

२ प्राक्चलितम्—उछलना।

३ लिपिमुद्रागणनासंख्यासालम्भधनुर्वेदाः—

लिपि—लेखन कला।

मुद्रा—एक हाथ या कभी-कभी दोनों हाथोंके द्वारा अथवा हाथकी उंगलियोंसे भिन्न भिन्न आकृतियोंका बनाना।

गणना—गिनना ।

संख्या—संख्याओंकी गिनती ।

आलम्भ—कुश्ती लड़ना ।

धनुर्वेदः—धनुष विद्या ।

४ जवितम्—दौड़ना ।

५ प्लवितम्—पानीमें डुबकी लगाना ।

६ तरणम्—तैरना ।

७ इष्वस्त्रम्—तीर चलाना ।

८ हस्तिग्रीवा—हाथीकी सवारी करना ।

९ रथः—रथ सम्बन्धी बातें ।

१० धनुष्कलापः—धनुष सम्बन्धी सारी बातें ।

११ अश्वपृष्ठम्—घोड़ेकी सवारी ।

१२ स्थैर्यम्—स्थिरता ।

१३ स्थाम—बल ।

१४ सुशौर्यम्—साहस ।

१५ बाहु व्यायाम—बाहुका व्यायाम ।

१६ अङ्कुश ग्रहपाशग्रहाः—अंकुश और पाश इन दोनों हथियारोंका ग्रहण करना ।

१७ उद्यानिर्माणम्—ऊंची वस्तुको फांदकर और दो ऊंची वस्तुके बीचसे कूदकर पार जाना ।

१८ अपयानम्—पीछेकी ओरसे निकलना ।

१९ मुष्टिबन्धः—मुट्ठी और घूंसेकी कला ।

२० शिखाबन्धः—शिखा बांधना।
२१ छेद्यम्—भिन्न सुन्दर आकृतियोंको काट कर बनाना।
२२ भेद्यम्—छेदना।
२३ तरणम्—नाव खेना या जहाज चलाना।
२४ स्फालनम्—(कदुक आदिको) उछालनेका कौशल।
२५ अक्षुण्णवेधित्वम्—भालेसे लक्ष्यवेध करना।
२६ मर्मवेधित्वम्—मर्मस्थलका वेधना।
२७ शब्दवेधित्वम्—शब्दवेधी बाण चलाना।
२८ दृढ़प्रहारित्वम्—मुष्टि प्रहार करना।
२९ अक्षक्रीड़ा—पाशा फेंकना।
३० काव्यव्याकरणम्—काव्यकी व्याख्या करना।
३१ ग्रन्थरचितम्—ग्रन्थ-रचना।
३२ रूपम्—वास्तु कला (लकड़ी, सोना इत्यादिमें आकृति बनाना)।
३३ रूपकर्म—चित्रकारी।
३४ अधीतम्—अध्ययन करना।
३५ अग्निकर्म—आग पैदा करना।
३६ वीणा—वीणा बजाना।
३७ वाद्यनृत्यम्—नाचना और बाजा बजाना।
३८ गीतपठितम्—गाना और कविता-पाठ करना।
३९ आख्यातम्—कहानी सुनाना।
४० हास्यम्—मज़ाक करना।
४१ लास्यम्—सुकुमार नृत्य।

गणना—गिनना।

संख्या—संख्याओंकी गिनती।

माल्लम्—कुश्ती लड़ना।

धनुर्वेदः—धनुष विद्या।

४ जवितम्—दौड़ना।

५ प्लवितम्—पानीमें डुबकी लगाना।

६ तरणम्—तैरना।

७ इष्वस्त्रम्—तीर चलाना।

८ हस्तिग्रीवा—हाथीकी सवारी करना।

९ रथः—रथ सम्बन्धी बातें।

१० धनुष्कलापः—धनुष सम्बन्धी सारी बातें।

११ अश्वपृष्ठम्—घोड़ेकी सवारी।

१२ स्थैर्यम्—स्थिरता।

१३ स्थाम—बल।

१४ सुशौर्यम्—साहस।

१५ बाहु व्यायाम—बाहुका व्यायाम।

१६ अङ्कुश ग्रहपाशग्रहाः—अंकुश और पाश इन दोनों हथियारोंका ग्रहण करना।

१७ उद्यानिर्माणम्—ऊची वस्तुको फांदकर और दो ऊंची वस्तुके बीचसे कूदकर पार जाना।

१८ अपयानम्—पीछेकी ओरसे निकलना।

१९ मुष्टिबन्धः—मुट्ठी और घूंसेकी कला।

१४ माल्यग्रथनविकल्पाः—विभिन्न प्रकारसे फूल गूंथना।

१५ शेखरकापीडयोजनम्—शेखरक और आपीडक—सिरपर पहने जाने वाले दो माल्य-अलंकारोंका उचित स्थान पर धारण करना।

१६ नेपथ्यप्रयोगाः—अपनेको या दूसरेको वस्त्रालकार आदिसे सजाना।

१७ कर्णपत्र भङ्गः—हाथी दांतके पत्तरों आदिसे कानके गहने बनाना।

१८ गन्धयुक्तिः—(ल० वि० ८६)।

१९ भूषणयोजनम्—गहना पहनाना।

२० ऐन्द्रजालायोगाः—इन्द्रजाल करना।

२१ कौचुमाराश्चयोगाः—शरीरावयवोंको मजबूत और विलास योग्य बनानेकी कला।

२२ हस्तलाघवम्—हाथकी सफाई।

२३ विचित्रशाकयूपभक्ष्यविकारक्रिया—साग भाजी बनानेका कौशल।

२४ पानकरसरागासवयोजनम्—भिन्न-भिन्न प्रकारका पेय (शर्बत वगैरह) का तैयार करना।

२५ सूचीवानकर्माणि—सीना, पीरोना, जाली बुनना इत्यादि।

२६ सूत्रक्रीड़ा—घर, मन्दिर आदि विशेष आकृतियां हाथमेंके सूतसे बना लेना।

२७ वीणाडमरुक वाद्यानि—वीणा, डमरु तथा अन्य बाजे बजाना।

२८ प्रहेलिका—पहेली
२६ प्रतिमाला—
३० दुर्वाचक योगाः—
३१ पुस्तक वाचनम्—पुस्तक पढ़ना।
(दे०, पृ० १४३-५)

३२ नाटकाख्यायिकादर्शनम्—नाटक, कहानियोंका ज्ञान।

३३ काव्यसमस्यापूरणम्—समस्या पूर्ति।

३४ पट्टिका वेत्रवानविकल्पाः—बेंत और बांससे नाना प्रकारकी वस्तुओंका निर्माण।

३५ तक्षकर्माणि—सोने चांदीके गहनों और बर्तनोंपर काम करना।

३६ तक्षणम्—बढ़ईगिरी।

३७ वास्तु विद्या—गृहनिर्माण कला, इञ्जिनियरिंग।

३८ रूप्यरत्न परीक्षा—मणियों और रत्नोंकी परीक्षा।

३९ धातुवादः—धातुओंको मिलाना, शोधना।

४० मणिरागाकरज्ञानम्—रत्नोंका रंगना और उनकी खनिओंका जानना।

४१ वृक्षायुर्वेदयोगाः—वृक्षोंकी चिकित्सा और उन्हें इच्छानुसार बड़ा छोटा बना लेनेकी विद्या।

४२ मेषकुक्कुटलावक युद्धविधिः—मेंढ़ा, मुर्गा और लावकोंका लड़ाना।

४३ शुकसारिकाप्रलापनम्—सुग्गा-मैनोंका पढ़ाना।

४४ उत्पादने संवाहने केशमर्दने च कौशलम्— शरीर और सिरमें मालिश करना।

४५ अक्षरमुष्टिकाकथनम्—संक्षिप्त अक्षरोंसे पूरा अर्थ जान लेना। जैसे मे० वृ० मि०=मेष, वृष, मिथुन।

४६ म्लेच्छितविकल्पाः—गुप्त भाषा-विज्ञान।

४७ देशभाषाविज्ञानम्—विभिन्न देशकी भाषाओंका ज्ञान।

४८ पुष्पशकटिका—फूलोंसे गाड़ी घोड़ा आदि बनाना।

४९ निमित्तज्ञानम्—शकुन ज्ञान।

५० यन्त्रमातृका—स्वयंवह यन्त्रोंका बनाना।

५१ धारणमातृका—स्मरण रखनेका विज्ञान।

५२ सम्पाठ्यम्—किसीके पढ़े श्लोकको ज्योंका-त्यों दुहरा देना।

५३ मानसी—(दे० पृ० १४४)।

५४ काव्य क्रिया—काव्य बनाना।

५५ अभिधानकोश छन्दोविज्ञानम्—कोश छन्द आदिका ज्ञान।

५६ क्रियाकल्पः—(ल० वि० ७२)।

५७ छलित योगाः—वेश वाणी आदिके परिवर्तनसे दूसरोंको छलना—बहुरूपीपन।

५८ वस्त्रगोपनानि—छोटे कपड़ेको इस प्रकार पहनना कि वह बड़ा दीखे और बड़ा, छोटा दिखे।

५९ द्यूतविशेषाः—जुआ।

६० आकर्ष क्रीड़ा—पासा खेलना।

६१ बाल क्रीड़नकानि—लड़कोंके खेल, गुड़िया आदि।

६२ वैनयिकीनां विद्यानां ज्ञानम्—विनय सिखानेवाली विद्या।

६३ वैजयिकीनां विद्यानां ज्ञानम्—विजय दिलाने वाली विद्याएं।

६४ व्यायामिकीनां विद्यानां ज्ञानम्—व्यायाम विद्या।

१२ पाषाणधात्वादिद्रुतिभस्मकरणम्—पत्थर और धातुओंका गलाना तथा भस्म बनाना।

१३ यावदिक्षुविकाराणां कृतिज्ञानम—ऊख रससे भिन्न चीनी आदि भिन्न चीजें बनाना।

१४ धात्वोषधीनां संयोगक्रियाज्ञानम्—धातु और औषधोंके संयोगसे रसायनोंका बनाना।

१५ धातुसाङ्कर्यपार्थक्यकरणम्—धातुओंके मिलाने और अलग करनेकी विद्या।

१६ धात्वादीनां संयोगापूर्वविज्ञानम्—धातुओंके नये सयोग बनाना।

१७ क्षारनिष्कासन ज्ञानम्—खार बनाना।

१८ पदादिन्यासतः शस्त्रसन्धाननिक्षेपः—पैर ठीक करके धनुष चढ़ाना और बाण फेंकना।

१९ सन्ध्याघाता कृष्टिभेदैः मल्लयुद्धम्—तरह-तरहके दांव-पेंचके साथ कुश्ती लड़ना।

२० अभिलक्षिते देशे यन्त्राद्यस्त्रनिपातनम—शस्त्रोंको निशाने पर फेंकना।

२१ वाद्यसंकेततो व्यूहरचनादि—बाजेके सकेतसे सेना-व्यूहका रचना।

२२ गजाश्वरथगत्या तु युद्धसंयोजनम्—हाथी घोड़े या रथसे युद्ध करना।

२३ विविधासनमुद्राभिः देवतातोषणम्—विभिन्न आसनों तथा मुद्राओंके ...

२४ सारथ्यम्—रथ हांकना।

२५ गजाश्वादेः गतिशिक्षा—हाथी घोड़ोंको चाल सिखाना।

२६ मृत्तिका काष्ठपाषाणधातुभाण्डादिसत्क्रिया—मिट्टी, लकड़ी, पत्थर और धातुओंके बर्तन बनाना।

२७ चित्राद्यालेखनम्—चित्र बनाना।

२८ तटाकवापीप्रासादसमभूमिक्रिया—कुँआ, पोखरे खोदना तथा ज़मीन बराबर करना।

२९ वस्त्राद्यनेकयन्त्राणां वाद्यानां कृतिः—वाद्य-यंत्र तथा पनचक्की जैसी मशीनोंका बनाना।

३० हीनमध्यादिसंयोगवर्णाद्यैः रञ्जनम्—रंगोंके भिन्न-भिन्न मिश्रणसे चित्र रंगना।

३१ जलवाय्वग्निसंयोग निरोधैः क्रिया—जल, वायु अग्निको साथ मिलाकर और अलग-अलग रखकर कार्य करना—इन्हें बांधना।

३२ नौकारथादियानानां कृतिज्ञानम्—नौका रथ आदि सवारियोंका बनाना।

३३ सूत्रादिरज्जुकरण विज्ञानम्—सूत और रस्सी बनानेका ज्ञान।

३४ अनेक तन्तु संयोगैः पटबन्धः—सूतसे कपड़ा बुनना।

३५ रत्नानां वेधादिसदसज्ज्ञानम्—रत्नोंकी परीक्षा, उन्हें काटना छेदना आदि।

३६ स्वर्णादीनान्तु याथार्थ्यविज्ञानम्

३७ कृत्रिमस्वर्णरत्नादि क्रियाज्ञानम्—

३८ स्वर्णाद्यलङ्कारकृतिः—सोने आदिका गहना बनाना।

३९ लेपादिसत्कृतिः—मुलम्मा देना, पानी चढ़ाना।

४० चर्मणां मार्दवादिक्रियाज्ञानम्—चमड़ेको नर्म बनाना।

४१ पशुचर्माङ्गनिर्हारज्ञानम्—पशुके शरीरसे चमड़ा मांस आदिको अलग कर सकना।

४२ दुग्धदोहादि घृतान्तं विज्ञानम्—दूध दुहना और उससे घी निकालना।

४३ कञ्चुकादीनां सीवने विज्ञानम्—चोली आदिका सीना।

४४ जलेबाह्वादिभिस्तरणम्—हाथकी सहायतासे तैरना।

४५ गृहभाण्डादेर्मार्जने विज्ञानम्—घर तथा घरके बर्तनोंको साफ करनेमें निपुणता।

४६ वस्त्रसंमार्जनम्—कपड़ा साफ करना।

४७ क्षुरकर्म—हजामत बनवाना।

४८ तिलमांसादिस्नेहानां निष्कासने कृतिः—तिल और मांस आदिसे तेल निकालना।

४९ सीराद्याकर्षणेज्ञानम्—खेत जोतना, निराना आदि।

५० वृक्षाद्यारोहणेज्ञानम्—वृक्षपर चढ़ना।

५१ मनोनुकूलसेवायाः कृतिज्ञानम्—अनुकूल सेवा द्वारा दूसरोंको प्रसन्न करना।

५२ वेणुतृणादिपात्राणां कृतिज्ञानम्—बांस, नरकट आदिसे बर्तन आदिका बना लेना।

५३ काचपात्रादिकरणविज्ञानम्—शीशेका बर्तन बनाना।

७ व्याकरणम्—
८ छन्दः—
९ ज्योतिषम्—
१० शिक्षा—
११ निरुक्तम्—
१२ कात्यायनम्—
१३ निघण्टुः—
१४ पत्रच्छेद्यम्—
१५ नखच्छेद्यम्—
१६ रत्नपरीक्षा—
१७ आयुधाभ्यासः—
१८ गजारोहणम्—
१९ तुरगारोहणम्—
२० तपोःशिक्षा—
२१ मन्त्रवादः—
२२ यन्त्रवादः—
२३ रसवादः—
२४ खन्यवादः—
२५ रसायनम्—
२६ विज्ञानम्—
२७ तर्कवादः—
सिद्धान्तः—
२९ विषवादः—
३० गारुडम्—
३१ शाकुनम्—
३२ वैद्यकम्—
३३ आचार्य विद्या—
३४ आगमः—
३५ प्रासादलक्षणम्—
३६ सामुद्रिकम्—
३७ स्मृतिः—
३८ पुराणम्—
३९ इतिहासः—
४० वेदः—
४१ विधिः—
४२ विद्यानुवादः—
४३ दर्शनसंस्कारः—
४४ खेचरीकला—
४५ अमरीकला—
४६ इन्द्रजालम्—
४७ पातालसिद्धिः—
४८ धूर्त्तशम्बलम्—
४९ गन्धवादः—
५० वृक्षचिकित्सा—

५१ कृत्रिम मणिकर्म—
५२ सर्वकरणी—
५३ वश्यकर्म—
५४ पणकर्म—
५५ चित्रकर्म—
५६ काष्ठघटनम्—
५७ पाषाणकर्म—
५८ लेपकर्म—
५९ चर्मकर्म—
६० यन्त्रकरसवती—
६१ काव्यम्—
६२ अलङ्कारः—
६३ हसितम्—
६४ संस्कृतम्—
६५ प्राकृतम्—
६६ पैशाचिकम्—
६७ अपभ्रंशम्—
६८ कपटम्—
६९ देशभाषा—
७० धातुकर्म—
७१ प्रयोगोपायः—
७२ केवलीविधिः ।

शुद्धिपत्र

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	११	गिश्मक	श्लिथक
६	१४	सहस्रशोऽन्ये	सहस्रशोऽन्याः
,,	१७	चन्द्रमत	चन्द्रमल
१२	३	[चादर]	या चादर
,,	१६	माहाक	सायाह्न
१३	१४	भाजन	भोजन
१५	९	जातिको	जातिकी
,,	१०	हुआ था	हुई थी
१८	१३	कादम्बी	कादम्बरी
२०	१६	घोड़ोंकी	घोड़ोंके
,,	२१	जिगका	जिनका
२२	१	इनकी	इसकी
२५	१७	काव्योंव्यों	काव्यों
,,	२०	मूल्म	मूल्य
२६	११	वह्निः	वह्निः
,,	२२	कविकंधभरण	कविकंठाभरण।
२७	३	कविकणभरण	कविकंठाभरण।
			चारुताएं

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२९	१९	आलंकारियों	आलंकारिकों
,,	२२	करती थी	करता था
३१	३	या मकानकी चौकी	[या मकानकी चौकी]
३३	७	नाटकी	नाटकों
,,	९	अन्नःचतुःशाल	अन्तः चतुःशाल
३७	३	(वैठनेके आसन)	या वैठनेके आसन
३८	५	पुष्पस्ततक	पुष्पस्तवक
३९	११	जो	जिनमें
,,	१८	जीवान्त	जीवन्त
४९	२२	शकुन्ता	शकुन्तला
५५	२	विद्याघर	विद्याधर
५८	१	विष्णुणर्मोत्तर	विष्णुधर्मोत्तर
६०	५	वार	वारवार
६१	८	उपयोगको	उपयोगकी
,,	१०	एक	तक
६३	१५	कुञ्चित थे	कुञ्चित थी
,,	१६	कर्कन्धू	कर्कन्धू
६४	२१	स्तिग्ध	स्निग्ध
११५	६	भूतिपान्तान्	भूषितान्तान्
१३२	८	धर्मबिन्दु	घर्मविन्दु